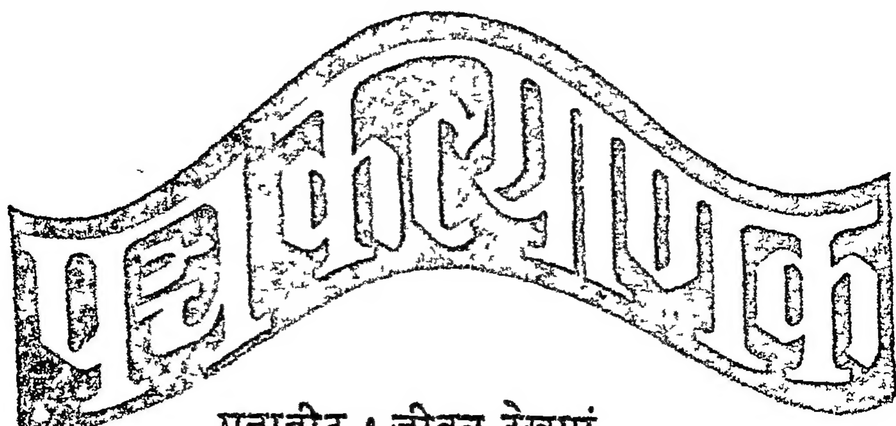
नमोऽत्थुण समणस्स भगवग्रो महावीरस्स

पच्चीसवी महावीर निर्वाण-शताब्दी के उपलक्ष्य मे

भगवान महावीर के



महावीर : जीवन-रेखाएं

सम्पादक :

श्री तिलकधर शास्त्री

(सम्पादक आत्म-रश्मि)

आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति

जैन स्थानक, लुधियाना

प्रकाशकीय

आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन-समिति ही पंजाब में एक मात्र ऐसी संस्था है जो निरन्तर श्री संघ की साहित्यिक सेवा कर रही है। अब तक समिति द्वारा लगभग २७ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत 'पञ्चकल्याणक' पुस्तक पच्चीसवीं महावीर निर्वाण शताब्दी के पावन वर्ष में किया गया एक महान् साहित्यिक प्रयास है जो जैन-धर्म-दिवाकर पंजाब-प्रवर्तक मुनि श्री फूल चन्द जी श्रमण महाराज एवं विद्वद् रत्न श्री रत्न मुनि जी महाराज की प्रेरणा का फल है। इसमें विद्वान् मुनीश्वरों एवं लेखकों ने अत्यन्त परिश्रम एवं गवेषणा पूर्वक भगवान महावीर का जीवन प्रस्तुत किया है। हम समिति की ओर से इस कृति का अभिनन्दन करते हैं।

समिति ने प्रस्तुत पुस्तक के रूप में 'लार्ड महावीर फाउण्डेशन' के साहित्य प्रकाशन के लक्ष्य को भी पूर्ण करने की दिशा में यह महान प्रयास किया है।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ अर्थ-सहायता श्री स्वरूपचन्द जी जैन गोविन्दगढ़, मैं० सीताराम गुप्ता गोविन्दगढ़, सागरमल जैन एण्ड कम्पनी गोविन्दगढ़, मैं० कन्हैया लाल एण्ड सन्स गोविन्दगढ़ ने की है। इस महान् पुण्य कार्य के लिये मैं समिति की ओर से इन सब को शत-शत धन्यवाद देता हूं और आशा करता हूं कि ये हमें इसी प्रकार सहयोग देते रहेंगे।

जसवन्तराय जैन
प्रधान

विवरणिका

पुस्तक	पञ्च कल्याणक
प्रेरक	श्री मुनि फूलचन्द जी श्रमण
प्रास्ताविक	व्या० वा० श्री कान्ति मुनि जी म०
सम्पादक	श्री तिलकधर शास्त्री
चयन	प्रो० मुलखराज जैन एम. ए
जन्म	श्री तिलकधर शास्त्री
दीक्षा	श्री ज्ञान मुनि जी महाराज
केवल-ज्ञान	श्री मनोहर मुनि जी महाराज
निर्वाण	श्री मुनि नेमिचन्द्र जी महाराज
वचनामृत	श्री श्रमण जी महाराज
मुद्रक	आत्म जैन प्रिंटिंग प्रैस, ३५०, इण्डस्ट्रियल एरिया-ए, लुधियाना-३
प्रकाशक	आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना
अर्थव्यवस्था	सेठ सीताराम गुप्ता, गोविन्दगढ़
	सागर मल जैन एण्ड कम्पनी ,,
	ला० कन्हैया लाल एण्ड सन्स ,,
	श्री स्वरूपचन्द जैन गोविन्दगढ़
संस्करण	प्रथम
	वीर सम्वत् २५०१
	विक्रम सम्वत् २०३२



जो हमारे लिये

वरेण्य है, शरेण्य है

जिनकी प्रेरणा ने

प्रस्तुत पुस्तक

पञ्च कल्याणक को

पूर्ण किया है

उन्हीं

जैन-धर्म-दिवाकर

पंजाब-प्रवर्तक

मुनि श्री फूलचन्द 'श्रमण' जी

के कर-कमलो मे

सादर समर्पित

—स्वरूप चन्द जैन







प्रास्ताविक



व्याख्यान-वाचस्पति श्री क्रान्ति मुनि जी महाराज

विश्ववन्द्य मगलमूर्ति "भगवान महावीर" की स्मृतिया आज चारो ओर सूर्य की किरणो के प्रकाश के समान सर्वत्र ही फैल गई हैं और फैल रही हैं। मै विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि इस वर्ष मे जैन-धर्म की जैसी प्रभावना हुई है और हो रही है वैसी सम्भवत सदियो पहले भी कभी न हुई होगी। आज सारा विश्व उस पुण्य-पुरुष का स्मरण कर रहा है, उस के गुणो का गान कर रहा है और उसके बताए पथ को जीवन का श्रेष्ठतम मार्ग कह कर अपनाने को प्रस्तुत हो रहा है।

श्रमण-भगवान महावीर और उनके पावन-पथ की ओर आकर्षण का कोई विशेष कारण अवश्य है,क्योकि मानवी वृत्ति सोद्देश्य प्रवृत्ति के लिये प्रसिद्ध है। मै समझता हू कि वह कारण और कुछ नही है, भगवान महावीर का जीवन आज के मानव की समस्याओ का समाधान है, उसकी जिज्ञासाओ की पूर्ति है, उसके भटकते जीवन के लिये प्रकाश है और उसके जीवन का महान् सम्बल है, क्योकि मानवीय महत्ता की जो सार्वभौम व्याख्या भगवान महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करो ने उपस्थित की है वह व्याख्या आज तक कोई भी उपस्थित नही कर सका। यद्यपि अनेक सस्कृतियो ने किसी ऐसी अज्ञात शक्ति को भगवान माना है जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, सर्वशक्ति-सम्पन्न है, सृष्टि का कर्ता-धर्ता है, वह परमात्मा भी भगवान महावीर की दृष्टि मे मानव ही है और कोई नही, अत वह परमात्मा भी महावीर के लिये कोई चमत्कार का

विषय नही है। उन्होने प्रभु-सत्ता के बाह्य प्रकाश के पीछे भागने की अपेक्षा उसके अन्त.स्रोत को पहचाना है और सभी के लिये उस स्रोत तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होने मानव को मनुष्य तो क्या देवताओ की गुलामी तक से मुक्त किया है। ऐसे प्रकाश-पुरुष के लिये हार्दिक श्रद्धा का उमड़ पड़ना कोई विशेष आश्चर्य नहीं है।

भगवान महावीर का 'जीवन' राजा का जीवन होते हुए भी एक अकिंचन तपस्वी का जीवन है, ससीम सत्ता से बंध कर विचरण करते हुए भी एक विराट सत्ता का जीवन है, बिन्दु मे समाए सिन्धु का जीवन है। यद्यपि अनेक जैन मुनीश्वरों ने भगवान महावीर के पाप-ताप-हारी जीवन का परिचय दिया है, उसे काव्य के रूप मे भी उपस्थित किया है, आगमो की वीथियो में विचरण करने पर उनके जीवन के विभिन्न भागो का परिचय भी प्राप्त हो जाता है, फिर भी उनके क्रमबद्ध जीवन-चरित की आवश्यकता बनी हुई थी।

सन्मति भगवान् महावीर का जीवन अन्तर्मुखी जीवन है, बाह्य-प्रक्रियाओ से उदासीन जीवन है, अत: उसमे वे घात-प्रतिघात नही है जो सामान्य जीवन-चरितो को लोकरुचि के निकट ले आते है, यही कारण है कि उनका जीवन सामान्य जनता की अध्ययन-वृत्ति का विशेष विषय नही बन पाया। प्राय: आज तक यही समझा जाता रहा है कि उनका जीवन पलायनता का पोषक है, विरक्ति की प्रवृत्ति को जागृत करनेवाला है, वह जीना नही मृत्यु सिखाता है, अत: जन-मन उसकी ओर जाते हुए डरता रहा है, परन्तु विगत दशको मे विद्वानो ने उनके जीवन का विश्लेषण किया, उनके सिद्धान्तो को मानवता की कसौटी पर परखा तो यह सिद्ध हुआ कि उनका जीवन तो वह सजीवनी है जो मृतको में भी स्फूर्ति जागृत कर देता है, उनमें नवचेतना का सचार कर देता है, अत: उनके जीवन-चरितो के प्रकाशन की रुचि का जागृत होना स्वाभाविक था।

भगवान महावीर का जीवन-परिचय मैं नही देना चाहता, मैं तो उनके जीवन की उस महत्ता की ओर सकेत करना चाहता हू जिससे हम आज तक अनभिज्ञ रहे है।

वैदिक साहित्य मे उल्लेख का अभाव

यह नियम है कि जो हमे प्राप्त नहीं है न तो हम उस का त्याग कर सकते है और न ही उसको प्राप्त करने को कामना को छोड़ सकते हैं। यह प्राप्ति की इच्छा ही वासना है जो जीवात्मा के संसार-भ्रमण का कारण है।

महावीर राजसी वैभव मे उत्पन्न हुए, उन्होने उस वैभव का अन्तिम बार पुनः प्रयोग करके देखा, किन्तु उसे निस्सार पाया, अत निस्सार से असीम विस्तार की ओर बढने की उन्मुक्त इच्छा उनके हृदय मे उभर आई। हृदय जिस वस्तु को निस्सार समझ लेता है वह उसकी वासना से मुक्त हो जाता है और वासना-मुक्त शुद्धात्मा ही विश्वमगल की विराट भावना को लेकर कुछ कर पाने मे समर्थ हो सकता है। यही कारण है कि गृह-परित्याग के अनन्तर उन्होने कभी कही पर "राजकुमार हू" यह कह कर अपना परिचय नही दिया।

वैदिक सस्कृति के पुराण ऐतिहासिक सामग्री के विशाल भण्डार हैं, उन पुराणो मे बुद्ध का उल्लेख विष्णु के दश अवतारो के रूप मे हुआ है, परन्तु पुराणो ने भगवान महावीर का कही उल्लेख नही किया। इतना बडा ऐतिहासिक महापुरुष भारत मे विचरण कर रहा हो और उसका पुराणकार उल्लेख न करें इसका कोई न कोई विशेष कारण होना ही चाहिए। मैं समझता हू पुराण-सस्कृति के निर्माता राज्यतन्त्र के प्रवल समर्थक थे, क्योकि राजा ही तो राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञो द्वारा उनकी सेवा-पूजा कर रहे थे। भगवान महावीर राजसूय अश्व-मेघ आदि हिंसक यज्ञो से जन-मन को मोड रहे थे, अतः विरोध भाव ने उन्हे उपेक्षित कर दिया होगा।

भगवान महावीर का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है और वैदिक सस्कृति प्रवृत्ति मार्ग की प्रवल समर्थक है, अतः प्रवृत्ति-प्रधान पुराण उनके निवृत्ति-मार्ग का उल्लेख न कर सके।

मैं मानता हू कि "उपनिषद्" साहित्य निवृत्ति का पोषक है, परन्तु यह भी तो सत्य है कि वैदिक सस्कृति के मत-मतान्तरो मे कोई भी ऐसा मत नही है जो विशुद्ध औपनिषदिक आधार पर प्रवृत्त

हुआ हो। तो जिस प्रकार उपनिषद्-मार्ग की निवृत्ति-परायणता की उपेक्षा की गई है, इसी प्रकार महावीर के निवृत्ति-मार्ग की भी उपेक्षा करदी गई है।

यह सब कुछ होते हुए भी वेदो में और श्रीमद्भागवत पुराण मे जैन-संस्कृति के आदि पुरुप भगवान् ऋषभदेव जी का और अरिष्ट नेमि जी का उल्लेख तो हुआ ही है, क्योंकि सत्य की पूर्ण उपेक्षा नही हो सकती।

काव्य-ग्रन्थो मे भी भगवान् महावीर का कुछ जैन मुनीश्वरो को छोडकर अन्य कवियो ने वर्णन नहीं किया, इसका कारण भी यही है कि महा-काव्य के लिये उस धीरोदात्त नायक की आवश्यकता होती है जो बड़े-बडे युद्ध करता हो, प्रेम की सीमाओ के पार पहुंच जाता हो, जिसका जीवन शृंगार, वीर, रौद्र, आदि रसो से परि-पूर्ण घटनाओ मे भरा हो, भगवान् महावीर ने न तो कोई युद्ध लड़ा, न कही किसी से प्रेम किया, न कही अपना रौद्र रूप प्रकट किया, अत: उनका प्रशान्त महासागर सा गम्भीर जीवन महाकाव्य के लिये उपयोगी सिद्ध न हो सका।

संसार फिर लौट रहा है :

विश्व-चक्र घूम रहा है अपनी अबाध गति से, अत. एक युग का वातावरण दूसरे युग मे पुन: लौट आता है। महावीर कालीन समस्याए नए-नए रूपो मे पुन: लौट आई हैं। तब यज्ञ के नाम पर होनेवाली हिंसा आज मास-भक्षण की प्रवृत्ति के रूप मे सामने आई है, तब नारी घर की चार दीवारी मे कैद हो कर साधना से विमुख हो गई थी, अब वह फैशन एवं वासना के जाल में घिर कर साधना-को भूल रही है, तब तथाकथित उच्च वर्ग गरीबो से घृणा करता था, अब पूजीवादी गरीब से घृणा करते हैं, बाह्य आडम्बरों को ही तब धर्म माना जाता था, बाह्याडम्बर ही आज भी धर्म कहे जाने लगे हैं, अत: अब अपने सिद्धान्त के रूप मे अमर भगवान् महावीर की पुन: आवश्यकता है।

धर्म

भगवान महावीर की दृष्टि मे "वस्तु-स्वभाव ही धर्म है"—"वत्थु-सहावो धम्मो" का उद्घोष कह रहा है कि आत्म-अवस्थिति ही धर्म है। आत्मा जिसे चेतना भी कह सकते हैं उसका स्वभाव है ऊपर उठना, वैसे ही जैसे ज्योति का स्वभाव है ऊपर उठना। ज्योति मिट्टी के दीपक के साथ चाहे वधी रहे, परन्तु वह वध कर भी ऊपर की ओर ही उठती है। चेतना भी भौतिक बन्धनो से वधी हुई है, अतः वह अपने ऊपर उठने के स्वभाव को भूल बैठी है। तूम्बे का स्वभाव है पानी की सतह पर तैरना, परन्तु पत्थर बांध कर पानी में फेंका हुआ तूम्बा डूब जाता है, इसी प्रकार कर्म-भार से बधी चेतना भी ससार-समुद्र मे एव वासनाओ के महानदो मे डूब जाती है। वासनाओ के पाषाणो से मुक्त चेतना भी पुनः ऊपर उठने लगती है—ऊपर उठ जाती है। चेतना का यह उत्थान ही धर्म है।

वस्तु-स्वभाव के अन्तर्गत हम मानवीय कर्तव्यों को भी रख सकते हैं, कर्तव्य-पालन मनुष्य का स्वभाव है, अतः कर्तव्य-पालन भी धर्म है। कर्तव्य-सीमा प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न है।

अहिंसा

अहिंसा एक केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारो ओर करुणा, दया, सहानुभूति, प्रेम और मैत्री के आरे है। अहिंसा सूर्य है, करुणा-दया आदि उसकी किरणे हैं। सूर्य-किरणो के बिना नही रह सकता, अहिंसा भी करुणा आदि के बिना नही रह सकती। ऐतिहासिको का कथन है कि विगत २५०० वर्षो मे इस पृथ्वी पर लगभग चौदह हजार लडाइयां लडी जा चुकी है। जो प्रति-दिन पडोसियो मे, परिवारो मे लड़ाइयां होती हैं उनकी गणना तो असम्भव ही है। लड़ाई चाहे कैसी भी हो उसका मूल हिंसा की प्रवृत्ति है और उसके आस-पास अनायास ही क्रूरता, भयकरता, घृणा, ईर्ष्या, विद्वेष आदि इकट्ठे हो जाते हैं। आज राजनैतिक सामाजिक, पारिवारिक एवं वैयक्तिक सभी क्षेत्रों में फैली हिंसा के कारण ही सर्वत्र शान्ति है। जब अशान्त जगत को कही शान्ति की किरण दृष्टि गोचर होती है तो वह अनायास ही

उसकी ओर आकृष्ट होने लगता है। आज का हिंसात्मक वातावरण भगवान् महावीर के सिद्धान्तो की ओर आकृष्ट हो रहा है मैं समझता हू उसका यही कारण है।

अहिंसा 'करुणा' सिखाती है और करुणा ही शान्त जीवन की आधार-भूमि है। करुणा देना सिखाती है, प्यार सिखाती है, सहानुभूति के गीत गाती है।

महापुरुष का लक्षण करते हुए उपनिषद् मे कहा गया है 'करुणा-केलि.' महापुरुष वह है जिसके लिये करुणा जीवन का खेल है। खेल मे स्वार्थ नही होता, केवल विनोद होता है, उसमे लगाव नही होता, केवल सामान्य प्रवृत्ति होती है, महापुरुष करुणा भी करते है तो वह भी किसी लगाव स्वार्थ या प्रयोजन के लिये नही, करुणा तो उनका खेल होता है। भगवान् महावीर जीवन भर करुणा-केलि में ही लीन रहे। वे सगमक जैसे दुष्ट की यातनाओं को भी सहते रहे करुणा का खेल समझ कर। कोई यातनाए दे तभी तो उस पर करुणा की जाय।

छे मास के बाद यातनाएं देते हुए थक कर संगमक जब करुणावतार प्रभु से क्षमा माग कर चलने लगा तो करुणा-पुरुष की आखो मे आसू आ गए। सगमक चकित हो गया, बोला 'आज आंसू ?' प्रभु की करुणा ने कहा—'तुम्हारी भावी यातनाओ का स्मरण कर मेरी करुणा रो उठी है।" यदि ऐसी करुणा की किरण मानवता को प्राप्त हो जाय तो विश्व-शान्ति के मानवीय स्वप्न शीघ्र ही साकार हो उठे इसमे सन्देह नही।

उनका जीवन किसी पर भार नहीं था :

एक बार सुना किसी से कि "महावीर ने भिक्षुओ की फौज तैयार कर दी थी।" मैं मुस्कराया पर कुछ बोला नही, क्योकि मुझे बए और बन्दर की एक पुरानी कहानी याद आ गई थी। बन्दर को शिक्षा देकर बए ने अपना घोसला ही उजड़वा लिया था। पर सोचता हूं कि क्या 'महावीर भिक्षुओ एव भिक्षुणियो की फौज तैयार करते थे, बात विचारणीय है।

भिक्षुक और भिखारी दोनों में अन्तर है। भिखारी पराश्रित रहता है, भिक्षा अवश्य मिले यह उसका उद्देश्य होता है, उसके मन में अधिक से अधिक और अच्छे से अच्छे पाने की वासना होती है, वह चिल्ला-चिल्ला कर लोगो को अपने भिखारीपन की सूचना देता है, वह भिखारी वन कर सोता है और भिखारी वन कर जागता है, उसकी भीख योजनावद्ध भीख होती है, परन्तु भिक्षुक पराश्रित नही, भिक्षा अवश्य मिले यह उसका ध्येय नही, मिल जाने पर वह ले लेता है न मिलने पर वह दुखी नही होता। दो-चार दिन तो क्या दो चार मास भी यदि भिक्षा न मिले तो भी उसे भिक्षा की चाह नही होती। यही कारण है कि भगवान महावीर साढे वारह वर्षों मे केवल ३५६ दिन आहार लेते थे। भिक्षुक चाहता है उसे वह मिले जिस की गृहस्थ को स्वय के लिये आवश्यकता न हो, वह सामान्य से भी सामान्य चाहता है, रूखा-सूखा चाहता है। भिक्षुक कभी किसी को अपने आने की सूचना नही देता, वह अनायास ही पहुच जाता है जिससे कि उसके लिये कुछ न वनाया जा सके, वह भिक्षुक वन कर सोता है, क्योकि वह कल के लिये कुछ नही रखता, उसकी भिक्षा अनियोजित होती है, वह भिक्षुक हो कर जागता है, क्योकि उसकी जागृत चेतना किसी खाद्य-पेय की इच्छा लेकर नही जागती, अत' सास्कृतिक भाषामे ऐसे भिक्षुक को 'अकलिपत भिक्षाशी' कहा गया है।

ऐसे भिक्षुक खाने के लिये नही जीते, जीने के लिये कुछ खा लेते हैं। खाना उनका उद्देश्य नही होता। उनकी भावना होती है कि वे इतना कम खाए कि उनके हिस्से का भोजन भी अन्य को प्राप्त हो सके। इसलिये भगवान ने उपवास को अधिक महत्त्व दिया है। भोजन की सीमाए वाधकर होनेवाली अनेक विध तपस्याओ के विवरण इसके साक्षी हैं कि भिक्षुक का उद्देश्य अधिक से अधिक त्याग है, ग्रहण नही। अत भगवान महावीर ने भिक्षुओ का अर्थात् त्यागियो का एक वहुत वडा वर्ग तैयार कर दिया था भिखारियो का नही।

एकाकी विचरण

महावीर जव तक पूर्ण ज्ञान, अर्थात् केवल ज्ञान की उपलब्धि नही

कर पाए तब तक वे एकाकी रहे। एकाकी का अर्थ है वे अपने साथ केवल अपने को ही रखना चाहते थे। जब तक दूसरा साथ रहता है तभी तक सब उपद्रव हुआ करते हैं, निस्संग जीवन में ही आत्म-रमणके आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। संगी-साथियों से हम प्रेम करते हैं, उन्हे अपना बनाने के लिये, परन्तु जब तक आत्मा से प्यार न किया जाएगा तब तक आत्मा को अपना कैसे बनाया जा सकता है? आत्म-ज्ञान के लिये आत्म-प्रेम आवश्यक है और वह एकाकी जीवन मे ही किया जा सकता है। एकाकी जीवन की निस्पृहता ही अन्य के लिये सुख-सुविधाए जुटा सकती है।

भगवान शून्य स्थानो मे—श्मशानोमे जाकर ध्यान लगाते थे। हम न जाने कितने लोगो को अपने कंधो पर ढोकर श्मशान मे पहुंचा देते हैं और मन ही मन अपनी इस कामना को पूर्ण करते हैं कि 'चलो हम तो जीवित हैं।' यह स्वार्थ है, महावीर अपने को आप ही श्मशान मे पहुचा कर शरीर की नश्वरता को देखते थे और शरीर की नश्वरता को देख कर ही वे शारीरिक सुख-सुविधाओं से मुंह मोड़ कर स्व-भाव मे लीन हो जाते थे, वे जीते जी शरीर को छोड़ देते थे। यही कारण है कि अनेक व्यक्तियों द्वारा दी गई शारीरिक यातनाए उनको विचलित नही कर पाती थी। श्मशान मे जाकर स्वत. ही कायोत्सर्ग कर देना साधना की एक उच्चतम अवस्था है जिसे भगवान महावीर ने ही प्रदर्शित किया है।

निर्वाण की ओर :

निर्वाण यह एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। निर्वाण शताब्दी के सन्दर्भ मे इस पर भी थोड़ा विचार कर ले। मरना और निर्वाण ये दो निकटवर्ती शब्द हैं, क्योंकि दोनो मे शरीर का त्याग होता है, मरने का अर्थ है पुन. ससार मे लौटना, ऊपर उठकर नीचे गिरना और निर्वाण है केवल ऊपर उठना, लौटने की प्रक्रिया का बन्द हो जाना, मृत्यु के सिर पर पैर रखकर वहा पहुच जाना, जहां पहुंचने पर न आना होता है और न वहा से जाना होता है, आने-जाने की प्रक्रिया से मुक्त हो कर अक्षय रूप मे अवस्थित ही निर्वाण है। निर्वाण के बाद वे सब उपद्रव, वे सब व्याधिया एव उपाधिया समाप्त हो जाती हैं

जो मृत्यु के समय बनी रहती हैं।

भगवान महावीर जीवन भर निर्वाण की ओर बढ़ने का ही प्रयत्न करते रहे और उन्होने अपनी प्रक्रिया द्वारा न जाने कितने साधको को निर्वाण साधना के योग्य बना दिया।

प्रस्तुत पुस्तक

प्रस्तुत पुस्तक का नाम है'पञ्च-कल्याणक' मैं यहा कल्याणक शब्द की विशेष व्याख्या नही करना चाहता, क्योकि प्रत्येक कल्याणक के लेखक ने कल्याण शब्द की थोडी या विस्तृत व्याख्या अवश्य की है। फिर भी इतना कहना अवश्य ही उपयुक्त समझता हूं कि तीर्थङ्करो के जीवन की पाच घटनाओ को जैन भाषा कल्याणक कहती है—च्यवन अर्थात् आत्मा का अन्य लोको से इस लोक मे अवतरण, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण। तीर्थङ्करो के जीवन की ये पाच घटनाए कल्याणकारिणी होती है।

जैन सस्कृति केवल उन्ही महापुरुषो के लिये तीर्थङ्कर शब्द का प्रयोग करती है जो इस धरती पर आते हैं, उन तीर्थों अर्थात् घाटो को खोलने के लिये जहा से चली हुई जीवन-नौकाएं ससार सागर से पार पहुंच सकती हैं। वे ऐसी समाज रचना कर देते हैं जिससे सभी को तरने का अवसर प्राप्त हो सके, वे स्वय भी तीर्थरूप होते हैं—क्योकि उनके सानिध्य मे पहुंच कर मनुष्य ऐसे ही अपने आपको पवित्र समझने लगता है, जैसे अग्नि के पास पहुंच कर व्यक्ति अपने आपको शीत-प्रकोप से सुरक्षित समझने लगता है। महावीर ऐसे ही एक तीर्थङ्कर थे।

तीर्थङ्करो का धरती पर आगमन धरती के लिये कल्याणकारी होता है। भगवान महावीर की आत्मा के यहा आते ही विदेह की भूमि सुख-समृद्धि से परिपूर्ण हो गई। उनका जन्म उनके परिवार की यश-कीर्ति एव सुख-समृद्धि का कारण तो बना ही साथ ही उनका जन्म सारी मानवता के लिये कल्याणकारी बन गया। उन्होने दीक्षा ली अपने लिये ही नही सन्तप्त समाज के कल्याण के लिये,वे उस ज्योति को ढूढने के लिये निकले जो युग-युग तक ससार को आलोकित कर सके। उनकी केवल-ज्ञान की प्राप्ति सत्य के वास्तविक स्वरूप को

प्रकट कर विश्व के लिये कल्याणकारिणी वन गई। उनका निर्वाण भी मङ्गलकारी वना, क्योकि जिस भूमि भाग से कोई आत्मा मोक्षगामी वनती है उस स्थान से मोक्ष-पथ की पगडण्डिया आरम्भ हो जाती हैं। इसी दृष्टि से निर्वाण-स्थल को तीर्थ कहा जाता है।

इस प्रकार उनका निर्वाण भी विश्व कल्याण का सावक वना।

जैन-धर्म दिवाकर पजाव प्रवर्तक श्री फूलचन्द जी श्रमण महाराज की दिव्य प्रेरणा से पाच व्यक्तियों ने भगवान महावीर के समग्र जीवन को उपस्थित किया है, सक्षिप्त सरल रोचक और सारभित भाषा मे। विशेपता यह है कि इसमे प्रवर्तक श्री जी ने कितनी सूझ-बूझ से काम लिया है भगवान महावीर के च्यवन-कल्याणक और जन्म-कल्याणक का गृहस्थ-जीवन से सम्वन्ध होने के कारण इन गृहस्थ लेखको से ही उपस्थित करवाया गया है और दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण का सम्बन्ध मुनि जीवन से होने के नाते उसे मुनीश्वरो की समर्थ लेखनी द्वारा ही प्रस्तुत करवाया है। अन्त मे भगवान महावीर की वाणी को उन्होने स्वय उपस्थित कर पुस्तक को पूर्णता प्रदान की है।

श्री तिलकधर शास्त्री अपनी सम्पादन-कुशल लेखनी के लिये जैन-समाज मे अपना विशिष्ट स्थान वनाते जा रहे है। इस पुस्तक के सम्पादन मे भी उनका प्रतिभा-कौशल निखर कर सामने आया है।

भगवान महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी पर इस ग्रन्थ का प्रकाशन विश्व के लिये 'कल्याणक' ही वने—विश्व मङ्गल की पावन भावना इसके द्वारा फलीभूत हो, मैं इन्ही शब्दो के साथ पुस्तक के प्रचार और प्रसार की कामना करता हूं।

१०—३—७५
लुधियाना

आषाढ-सुसित-षष्ठ्या हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशिन ।
आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः ॥
सिद्धार्थ-नृपति-तनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे ।
देव्या प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्सप्रदर्श्य विभुः ॥

जब आप अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान से स्वर्ग-सुखो को भोगकर च्युत हुए और देवी प्रियकारिणी की कुक्षि मे प्रविष्ट हुए तब आषाढ शुक्ल षष्ठी का दिन था, चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र में था, भारतवर्ष के विदेह देश मे कुण्डपुर नगर का शासक सिद्धार्थ था, यह प्रियकारिणी (त्रिशला) उनकी पटरानी थी। आपके गर्भ मे आने से पहले उसने सोलह स्वप्न देखे थे।

श्वेताम्बर-शास्त्र च्यवन-समय में हस्तोत्तरा—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मानते हैं।



च्यवन कल्याणक

प्रो॰ मूलख राज जैन एम. ए.

च्यवन-कल्याणक

० १ ०

'कल्याणक' शब्द तीर्थङ्कर के जीवन मे आनेवाले मगलमय अवसरो से सम्बद्ध है। वैसे तो महापुरुषो के जीवन का प्रत्येक क्षण ही कल्याणकारी होता है, परन्तु जैन सस्कृति मे तीर्थङ्करो (महापुरुषो) के जीवन मे आनेवाले मगलमय पाच अवसरो को 'कल्याणक' कहा गया है। इस दृष्टि से 'कल्याणक' शब्द जैन-धर्म का पारिभाषिक शब्द बन गया है। शास्त्रकार कल्याणक की व्याख्या करते हुए कहते है :—

(क) यह वह मगलमय अवसर होता है जिसमे महा साधक अपना कल्याण तो करता ही है, साथ ही उसके द्वारा अनन्त जीवो के कल्याण का उपक्रम भी आरम्भ हो जाता है।

(ख) इस मंगलमय पुण्योत्सव मे देव, मनुष्य और विकासोन्मुख अन्य जीव भी सम्मिलित होते है। ऐसी मान्यता है कि तीर्थङ्करो के जन्मादि के समय इन्द्रादि देव मिलकर उत्सव करते है।

(ग) इस मगलमय अवसर पर कुछ समय के लिये नरकवासी जीव भी सुख की सास लेते है।

(घ) इस पुण्य अवसर के आने पर तीनो लोको के भव्य प्राणियो के हृदय मे अनायास ही हर्ष हिलोरें लेने लगता है।

(ङ) कल्याणक वेला मे सर्वत्र सुख और शाति का प्रसार हो जाता है। सब के हृदयो मे अनायास ही पुण्य-प्रकृतियो का उदय हो जाता है, समस्त वातावरण मे दिव्य सौन्दर्य भर जाता है।

इस प्रकार के विशेष मंगलकारी पाच उत्सव हैं—तीर्थङ्कर-पद प्राप्त करनेवाली दिव्य आत्मा का धरती पर जन्म के लिये अवतरण, जिसे च्यवन-कल्याणक कहा जाता है, जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, केवलज्ञान-कल्याणक, और निर्वाण-कल्याणक।

भगवान महावीर का च्यवन-कल्याणक

'च्यवन' का अर्थ है—ऊर्ध्वस्थित देवलोको मे धरती पर अवतीर्ण होना, अर्थात् भावी तीर्थङ्कर के जीव की माता के गर्भ मे प्रवेश की कल्याणकारी घटना को 'च्यवन-कल्याणक' कहा गया है। तीर्थङ्कर के रूप मे अवतरित होने से पूर्व दिव्य आत्माए अनेक साधनाए करती हुई अपने आपको शुद्ध पवित्र एव श्रद्धामय वना देती हैं, परिणाम स्वरूप वे आत्माए तीर्थङ्कर वनने की योग्यता प्राप्त कर लेती है। जैन परिभापा मे उसे 'तीर्थङ्कर-गोत्र का उपार्जन करना कहा जाता है। भगवान महावीर के जीवात्मा ने भी अनेक पूर्व जन्मो मे शुभ कर्मो का उपार्जन किया, तथा कर्मो के क्षयोपशम से तीर्थङ्कर गोत्र वांधा और प्राणत देवलोक से अवतीर्ण हो कर माता त्रिशला के गर्भ मे निवास किया।

आज के वैज्ञानिक युग में पुनर्जन्म और परलोक की वात उपहासास्पद सी प्रतीत होती है. परन्तु हमें यह जानना चाहिए कि यह विषय भौतिक विज्ञान का नही, अध्यात्म-विज्ञान का है। भारत के प्राय सभी दार्शनिको ने (चार्वाक दर्शन को छोड़कर) आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जैन दर्शन ने चार ध्रुव सिद्धात स्वीकार किए हैं—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। जैन धर्म द्वारा आत्मा की स्वीकृति के कारण कर्म, उसके शुभाशुभ परिणामो तथा उन परिणामो से होनेवाले अनेक जन्मो की सिद्धि की स्वीकृति भी स्वत ही हो जाती है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि यह लोक नाना प्रकार की कर्म-वर्गणाओ के समूहो से भरा पडा है। जव भी कोई जीव राग-द्वेष-जन्य क्रियाओ के वशीभूत होता है, तभी कर्म-समूह आत्मा के साथ जुडने लगते है और कर्म तथा आत्मा का यह सम्वन्ध ही जन्म का कारण वन जाता है। जिस प्रकार चुम्वक लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है उसी

प्रकार कर्म-युक्त जीव भी अनेक शुभ-अशुभ गतियो की ओर स्वत. खिचते चले जाते है।[1]

जैन दर्शन की भांति पुनर्जन्म को वैदिक परम्परा मे भी स्वीकार किया गया है। जैन धर्म मे पुनर्जन्म का कारण मानव द्वारा कृत कर्म हैं जो कार्मण शरीर की रचना करते हैं । वैदिक परम्परा मे पुनर्जन्म का कारण एक सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर ही गमनागमन के समय कर्मो का समुदाय अपने साथ लेकर जाता है । जीवात्मा जब अपने पूर्व स्थूल शरीर को छोडकर नये स्थूल शरीर मे प्रवेश करता है तब वह सूक्ष्म शरीर के रूप मे ही जाता है।[2] वैदिक परम्परा की यह मान्यता कुछ सूक्ष्म अन्तर के साथ जैन-मान्यता का ही समर्थन करती है।

आधुनिक काल के प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिको ने भी पुनर्जन्म की स्पष्ट घोषणा की है । वाल्ट ह्विटमैन ने स्पष्ट लिखा है कि 'जीवन'। तुम मेरे अनेक अवसानो के अवशेप हो। इस मे कोई सन्देह नही कि मैं इसके पूर्व दस हजार वार मर चुका हू।[3] प्राध्यापक हक्सले (Prof Huxly) का कथन है—केवल विना ठीक से सोचे समझे निर्णय लेने वाले विचारक ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मूर्खता की वात समझकर इसका विरोध करेगे। देहान्तरवाद का सिद्धात वास्तविकता के सुदृढ धरातल पर टिका हुआ है।

१—सभुवि तभुवि कम्मायतउ कम्मविवाउ लोइ वलवतउ ।
लोहु व कढ्ढ्एण कढढिज्जए जीव सकम्मि चउगइ णिज्जइ ॥

(जसहर-चरिउ)

२— "उक्तलक्षण प्राणादिमाञ्जीवो हि सूक्ष्मभूतम्परिवृत. एव देह विहाय देहान्तर गच्छति"।

(ब्र० भू० ३-१-१ की परिजात सौरभ)

3- As to you, life I reckon you are
the leavings of many deaths.
No doubt I have died myself
ten thousand times before
(Walt Whitman)

उपर्युक्त विवेचन से पुनर्जन्म और पूर्वभव की मान्यता की पुष्टि हो जाती है। यह पुष्टि 'आतमवाद' के सिद्धात की स्वीकृति पर ही निर्भर है। यदि आत्मा है तो पुनर्जन्म और परलोक भी है। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो की मान्यताओं और धारणाओ से आत्मा के परलोक-गमन एव परलोक से पृथ्वी पर आगमन का सिद्धात स्पष्ट है।

भगवान महावीर के जीव की माता त्रिशला के गर्भ मे आने की घटना से पूर्व की साधना एक विस्तृत जीवन-परम्परा से सम्बद्ध है। उन्होने अनेक जन्मों मे सतत विशुद्ध भाव से आत्म-साधना की। पुण्य-अनुष्ठान किए, अनेक बार श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण की, सम्यक्त्व का स्पर्श किया तथा तीर्थङ्कर गोत्र बाधकर २६ वें जन्म मे देवलोक से अवतरित होकर माता त्रिशला के गर्भ मे पहुचे। शास्त्रो मे उनके इस जन्म से पूर्व के कई जन्मो का उल्लेख मिलता है,[1] परन्तु विस्तार-भय

१- १. बलाविक अथवा नयमार नामक राज्याधिकारी। २. सौधर्म नामक देवलोक के देवता। ३. भगवान ऋषभदेव के पौत्र मरीचि। ४ ब्रह्मलोक में देवता। ५. कोल्लाक सनिवेश मे कौशिक ब्राह्मण। ६. थूणा नगरी मे पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण। ७ सौधर्म देवलोक के देवता। ८ चैत्य सनिवेश नगर में अग्निद्योत नामक ब्राह्मण। ९. ईशान्र देवलोक मे देवता। १०. सनिवेश नगर मे अग्निभूति ब्राह्मण। ११. सनत्कुमार देवलोक के देवता। १२. श्वेताम्बिका नगरी मे भारद्वाज नामक ब्राह्मण। १३. माहेन्द्र देवलोक के देवता। १४ राजगृह नगर में स्थविर ब्राह्मण। १५. ब्रह्मदेवलोक मे देवता। १६. राजगृह नगर मे विश्वभूति राजकुमार। १७ शुक्र कल्पलोक के देवता। १८ पोतनपुर मे त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव। १९ नैरयिक जीवन। २०. सिंह-जन्म। २१ नैरयिक जीवन। २२ पोट्टल नरेश (विशेष विवरण उपलब्ध नहीं) २३ काकदी नगरी मे प्रियमित्र चक्रवर्ती। २४. महाशुक्र कल्पनामक देवलोक मे सर्वार्थनामक विमान के देवता। २५ छत्रा नगरी में नन्दन नामक राजकुमार। २६ प्राणतकल्प नामक देवलोक के पुष्पोत्तर विमान मे देवता। २७ वर्धमान महावीर (मोक्ष के अनन्तर जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हुई)

से हमारे लिये उनके कुछ पूर्व जन्मो का उल्लेख करना ही उपयुक्त होगा—

नयसार के रूप मे

भगवान महावीर का जीवन अपनी साधनामयी जीवन-परम्परा मे पहले-पहल पृथ्वी-प्रतिष्ठ नामक नगर मे 'नयसार' के नाम से हमारे सामने आता है । इसी जन्म मे नयसार ने वह तीर्थङ्कर बनने के लिये अपना पहला कदम उठाया था जो आत्म-विकास की पूर्णता को प्राप्त कर स्वय तरने की महाशक्ति के साथ-साथ लोक को तारने की महाशक्ति से सम्पन्न महापुरुष होता है ।

एक दिन नयसार वन मे लकडिया काटने के लिये गया । वहा वह जब भोजन करने के लिये बैठा ही था उसी समय कोई अतिथि मार्ग भूलकर भटकते हुए उधर आ निकला । नयसार ने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक उसे आहारादि दिया । विशुद्ध भाव से दिया गया आहारादि तथा श्रद्धा-सहित किया गया सत्कार ही नयसार के लिये 'महावीर' बनने की नीव बन गया ।

मरीचि के रूप मे

नयसार के रूप मे अपनी आयु पूर्ण कर भगवान महावीर का जीव सुधर्म देवलोक मे उत्पन्न हुआ । वहा से लौटने पर भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीचि के रूप मे उसने जन्म लिया ।

एक बार अपने पुत्र मरीचि को लेकर महाराज भरत भगवान ऋषभदेव का उपदेश सुनने गए । चक्रवर्ती भरत ने भगवान ऋषभदेव से प्रश्न किया कि—

"भगवन् ! क्या यहा कोई ऐसा प्राणी भी है जो इसी चौबीसी (चौबीस तीर्थङ्करो) मे तीर्थङ्कर पदवी को प्राप्त करेगा ?"

भगवान ऋषभदेव ने कहा कि "भरत ! तुम्हारा यह पुत्र मरीचि ही वासुदेव और चक्रवर्ती बनने के पश्चात् चौबीसवे तीर्थङ्कर महावीर के रूप मे प्रकट होगा ।"

यह वात सुनकर मरीचि को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह मुनि वन कर साधना करने लगा। अनेक प्रकार की धर्म-साधनाएं और तपस्याएं करके मरीचि अपनी आयु पूर्ण करने के पश्चात् ब्रह्मदेवलोक मे जा पहुचा।

कौशिक के रूप में

ब्रह्मलोक के सुखो का उपभोग करते हुए जव उस जीव ने देवलोक की आयु पूर्ण कर ली, तव वह कोल्लाक नामक ग्राम मे एक ब्राह्मण के घर जन्मा। वहा इसका नाम 'कौशिक' रखा गया। कौशिक ने इस जन्म मे दण्डी सन्यासी का वेश धारण किया और तप-जप की साधना करते हुए अपनी आयु समाप्त होने पर स्वर्ग सिधार गए।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में

इस प्रकार अनेक जन्मो मे भ्रमण करते हुए महावीर के जीव ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में जन्म लिया।

त्रिपृष्ठ वड़ा वलवान और शक्तिशाली राजा था। एक दिन उस के दरवार मे गाने वाले कुछ गवैये आये। राजा ने कहा—हम तुम्हारा गायन अपनी शय्या पर लेटे हुए ही सुनेंगे। कार्यक्रम निश्चित हो गया।

राजा ने अपने शय्या-पालक को आज्ञा दी कि जब मैं गाना सुनते-सुनते सो जाऊ, तव तुम गाना वद करवा कर कलाकार को विदा कर देना। गायन के स्वर गू जने लगे और राजा को नीद आ गई। संगीत मे मस्त शय्यापालक ने सगीत वद नहीं करवाया। सगीत चलता ही रहा, अत राजा की नीद टूट गई। उसने क्रुद्ध होकर शय्या-पालक से पूछा 'अव तक सगीत क्यो चल रहा है? उसने आज्ञा-भंग का अपराध ठहराते हुए राज-मद मे डूव कर शय्या-पालक के कानो मे गरम सिक्का डलवाकर शय्यापालक को मारने का कठोर आदेश दिया। कहते हैं 'तप से राज और राज से नरक' के नियम के अनुकूल

उसने निकाचित अर्थात् विना भोग के समाप्त न होने वाले दृढ कर्म का वध किया।

प्रियमित्र के रूप मे

इस प्रकार इस जन्म मे अनेक प्रकार के भोगो का उपभोग कर जन्म-मरण की परम्परा को पार करते हुए यह जीव प्रियमित्र चक्रवर्ती के रूप मे अवतरित हुआ। चक्रवर्ती के रूप मे उसने छ खण्डो पर शासन कर सासारिक भोगों का उपभोग किया।

नन्दन के रूप में

अव वह छत्रा नामक नगरी मे एक राज घराने मे उत्पन्न हुआ। यहा इसका नाम 'नन्दन' रखा गया। नन्दन जव किशोरावस्था मे प्रविष्ट हुए तव इनके पिता ने इनके कन्धो पर राज्य का भार रखकर स्वय साधु-वृत्ति ग्रहण करली। कुछ वर्षो के वाद नन्दन के मन मे भी वैराग्य की तरगे ठाठे मारने लगी और उसने सम्पूर्ण सांसारिक वैभव को ठुकरा कर कौटिल्याचार्य के पास पहुचकर साधु-दीक्षा ग्रहण करली।

इस प्रकार पूर्व जन्मो मे भगवान महावीर का जीव सम्यक्त्व का स्पर्श कर चुका था। अव उसके लिये आत्म-साधना के द्वार खुल गए, अत वह कर्मों मे मुक्त होने लगा। उसकी प्रवल साधना सफली-भूत होने लगी। नन्दन ने इसी जन्म मे तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन कर लिया। नन्दन ने उत्कट भावो से तप, जप स्वाध्याय और ध्यान मे उत्कृष्ट भक्ति भाव मे तल्लीन होकर तीर्थङ्कर बनने की योग्यता प्राप्त कर ली।

जैन धर्म मे तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करने के लिये विशेष रूप से आत्म-साधना करते हुए वीस गुणो की उपलब्धि आवश्यक मानी गई है। आगमकारो ने उन वीस गुणो का परिचय इस प्रकार दिया है :—

अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, (भगवान के उपदेश) गुरु, स्थविर, (वृद्धमुनि) वहुसूत्री पण्डित, तपस्वी, इन सातो का गुणानुवाद करने से, वार-वार मनोवृत्तियो को ज्ञानोन्मुखी बनाने से, निर्मल सम्यक्त्व

(विशुद्ध सदाचरण) का पालन करने से, गुरु आदि पूज्य जनो की विनय करने मे, निरन्तर षड् आवश्यक का अनुष्ठान करने से, शील अर्थात् ब्रह्मचर्य अथवा उत्तर गुणो एव मूल गुणो का तथा प्रत्याख्यान का अतिचार रहित पालन करने से, सदैव वैराग्य-भाव रखने से, बाह्य और आभ्यतर तप करने से, सुपात्र को दान देने से गुरु, रोगी, तपस्वी वृद्ध तथा नवदीक्षित मुनि की सेवा करने से, क्षमाभाव रखने से, नित्य नये ज्ञान का अभ्यास करने से, आदरभाव से, जिनेश्वर भगवान के प्रवचनो पर श्रद्धा करने से और तन, मन, धन से जिन-शासन की प्रभावना करने से जीव तीर्थङ्कर बनने की योग्यता प्राप्त कर पाता है।'

उपर्युक्त बीस साधनाए भगवान महावीर के जीव के द्वारा सम्पन्न हुई, यह साधना करते हुए तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन भगवान के जीव ने नन्दन के जन्म मे किया था । इस जन्म की आयु पूर्ण कर इनका जीव दसवे स्वर्ग मे स्थित हो गया ।

दसवें स्वर्ग मे भगवान महावीर के जीव ने बहुत लम्बी देव-आयु प्राप्त की और देवलोक के सुखो का उपभोग किया। देवलोक की आयु पूर्ण होने पर जम्बू द्वीप के दक्षिण भाग मे अवस्थित भरत क्षेत्र मे भगवान ने इस धरा धाम को अपने जन्म से पवित्र बनाया ।

जैन धर्म की मान्यता है कि तीर्थङ्कर बननेवाला जीव क्षत्रिय-कुलोद्भव राजकुमार ही होता है । वह शासक होता है शासित नही, परन्तु भगवान के जीव को पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ मे आना

---

१ — अरिहन्त-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुय-तवस्सीसु ।
वच्छलया य तेसिं, अभिक्खणाणोवओगे य ॥
दसण-विणय आवस्सय, सीलव्वए य निरइयारे ।
खणलव तवच्चियाए, वैयावच्च समाहीय ॥
अपुव्वणाण गहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहि कारणेहि, तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥

(श्री ज्ञाताधर्म कथांग, अध्याय आठवा)

पडा। यह एक प्रकार की अनन्त काल के बाद होनेवाली अनहोनी बात थी, जिसे जैन धर्म मे 'अच्छेरा' कहा जाता है।

जब महावीर का जीव देवानन्दा के गर्भ मे अवतरित हुआ तब देवानन्दा ने जो चौदह स्वप्न देखे थे वे हैं—हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, फूलो की माला, चन्द्र, ध्वजा, कुम्भ, पद्म, सागर, विमान, भवन, रत्नो का ढेर और अग्नि-शिखा। इस प्रकार के कल्याणकारी और मगलमय स्वप्न देखकर देवानन्दा जाग उठी और उसने अपने पति ऋषभदत्त के समक्ष इन स्वप्नो की चर्चा की।

इन स्वप्नो की चर्चा सुनकर ऋषभदत्त ने बताया कि गर्भिणी स्त्री द्वारा इस प्रकार के स्वप्न देखने का फल यह होता है कि उसके गर्भ से किसी मङ्गलमय महापुरुष का जन्म होता है।

कहा जाता है कि ईसा से लगभग छः सौ वर्ष पूर्व आषाढ शुक्ला षष्ठी को वैशाली के उपनगर ब्राह्मण कुण्डपुर के ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा ने जो गर्भ धारण किया उसमे भगवान महावीर के जीव ने प्रवेश किया था, किन्तु सौधर्मेन्द्र नामक इन्द्र ने हरिणैगमेषी नामक देवता के द्वारा देवानन्दा के पुत्ररूप गर्भ को महाराज सिद्धार्थ की पत्नी महारानी त्रिशला के गर्भ मे पहुचवा दिया।

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे गर्भ-परिवर्तन की बात कुछ उपहासास्पद सी प्रतीत होती है, किन्तु देवताओ मे अद्भुत शक्ति होती है, वे अवधि-ज्ञान के धारक होने के नाते सभी कार्य बडी सुगमता से कर सकते है। जैन आगमों मे देवताओ की असख्य शक्तियो का वर्णन मिलता है। अल्पज्ञ मानव तो उनकी शक्ति की कल्पना भी नही कर सकता। वैज्ञानिक युग मे तो गर्भ-परिवर्तन साधारण सी बात प्रतीत होती है। यदि देवताओ के इस कृत्य को वैज्ञानिक ही मान लिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

वैदिक परम्परा मे भी गर्भ-परिवर्तन की घटना मिलती है। कस माता देवकी के गर्भ से उत्पन्न बालको की हत्या कर देता था। देवमाया ने माता देवकी के गर्भ मे स्थित शेष के अवतार सातवे पुत्र बलराम को योग-शक्ति के द्वारा बलात् सकर्षण (खीचकर) करके

रोहिणी के गर्भ मे स्थापित कर दिया था ?[1]

इस प्रकार इन दोनों परम्पराओ मे गर्भ-परिवर्तन की स्थिति स्पष्ट एव समान है। इस विषय पर श्री तिलकधर शास्त्री के निम्नलिखित विचार मननीय हैं।

भगवान महावीर का जीव उस समय तीर्थङ्कर बन कर आया। तीर्थ का अर्थ है—पार करने का स्थान या पार होने का स्थान। पार करना और बात है, पार होने की विद्या सिखला देना और बात है। तीर्थङ्कर किसी को पार नही करते बल्कि पार होने की विद्या सिखलाते हैं। आज तक दुखो से पार करने की विद्या के ठेकेदार ब्राह्मण ही समझे जाते थे, परन्तु भगवान महावीर ने जन्म लेकर केवल दुखो से ही नही, दुखो की मूल विषयासक्ति से एव ससार-सागर से पार करने का मार्ग दिखला कर 'तीर्थङ्कर' पद प्राप्त किया, अर्थात् ब्राह्मणत्व को जीतकर, विषय-वासनाओ को जीत कर, देवो को जीतकर, जिनेश्वर कहलानेवाले भगवान महावीर ने क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लिया। मैं समझता हू, ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्राणी के गर्भ मे आने का यही अभिप्राय है जिसे शास्त्रकारो ने अपनी कथा-शैली मे गर्भ-परिवर्तन की घटना के रूप मे उपस्थित किया है।

यहा एक विषय और भी विचारणीय है कि भगवान महावीर के ब्राह्मण पिता का नाम 'ऋषभ' बताया गया है और माता का नाम देवानन्दा है। गर्भ-परिवर्तन करानेवाले 'सौधर्मेन्द्र' है और कार्य करनेवाले 'हरिनैगमेषी' हैं। ऋषभ का अर्थ बैल है जो एक ओर तो शक्ति का प्रतीक माना गया है और दूसरी ओर उसे धर्म का प्रतीक स्वीकार किया जाता है। देवानन्दा शब्द दैवी आनन्द का प्रतीक है। सौधर्मेन्द्र शब्द का अर्थ भी सुन्दर धर्मोपासको मे श्रेष्ठ इन्द्र होता है। हरिनैगमेषी का अर्थ इन्द्र-सेवक होता है। इन प्रतीकात्मक नामो को

१- शेषाश: सप्तमस्तत्र देवकीगर्भसस्थित.।
विवसितश्च गर्भोऽसौ योगेन योगमायया।
नीतश्च रोहिणीगर्भ, कृत्वा संकर्षण बलात्।

—श्री श्रीमद्देवी भागवत ४-२२-२३

लक्ष्य में रखकर यह भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मण जाति के धर्म-बल, देवताओ के आनन्द, सुन्दर एव वास्तविक धर्माचरण करनेवाले महापुरुषो की श्रेष्ठता एव दैवी शक्तियो द्वारा सेवा करवाने की समस्त शक्तियो ने सम्मिलित रूप मे पुण्यशीला माता त्रिशला के गर्भ से वर्धमान के रूप मे जन्म लिया ।

जिस रात्रि को भगवान महावीर देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला रानी की कुक्षि में पधारे उस समय अर्द्धनिद्रित अवस्था मे सोई हुई माता त्रिशला ने चौदह प्रधान स्वप्नो को देखा । प्रभात होते ही रानी त्रिशला ने राजा सिद्धार्थ को उन चौदह स्वप्नो का विवरण दिया । राजा सिद्धार्थ ने स्वप्न-शास्त्रियो को अपने राज-प्रासाद मे बुलवाया । उन्हें यथायोग्य सम्मान देकर राजा सिद्धार्थ बोले कि 'रात्री के तीसरे प्रहर मे महारानी त्रिशला ने अमुक-अमुक चौदह स्वप्न देखे है । आप अपने अनुभूत ज्ञान से इनका फल कहिए । यह बात सुनकर स्वप्नशास्त्री बोले—'हे देवानुप्रिय ! महारानी त्रिशला ने जो चौदह स्वप्न देखे हैं वे प्रशस्त और कल्याणकारी हैं । इनमे आपको सर्वोत्तम अर्थ, पुत्र, सुख और राज्य की प्राप्ति होगी और महारानी त्रिशला एक कुल-ध्वज कुल-दीपक, कुल-द्योतक, कुल-मुकुट और कुल परम्परा-वर्द्धक बहुत ही शील-वान् तथा देदीप्यमान तीर्थङ्कर पद प्राप्त करने योग्य पुत्र को जन्म देगी ।

इस प्रकार स्वप्न-शास्त्रियो ने भावी शिशु की महामहिमा-शालिनी प्रभुता का परिचय दिया, तत्पश्चात् उन स्वप्न-शास्त्रियो को बहुत सम्पत्ति देकर राजा सिद्धार्थ ने महती कृतज्ञता से विदा किया ।

जैन कथा-साहित्य मे महापुरुषो के जन्म से पूर्व प्रायः १४ स्वप्न देखने की बात अवश्य कही जाती है । भगवान महावीर के अवतरण से पूर्व माता देवानन्दा ने तदनन्तर महामहिमाशालिनी माता त्रिशला ने स्वप्न मे क्रमशः चौदह पदार्थ देखे थे—

१ श्वेत हाथी	२ सफेद बैल	३ सिंह
४ लक्ष्मी	५ पुष्पमाला	६ चन्द्र
७. सूर्य	८ ध्वजा	९ पूर्ण कलश
१० पद्म-सरोवर	११ क्षीर-समुद्र	१२ देव-विमान
१३. रत्न-राशि	१४ निर्धूम अग्नि ।	

यद्यपि इन चौदह मगल पदार्थों के दर्शन देवानन्दा ने भी किये थे और उसे भी उनका यही फल मिलना चाहिए था जो माता त्रिशला को प्राप्त हुआ परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि गर्भ-हरण होते ही देवानन्दा ने यह भी स्वप्न देखा था कि मुझे स्वप्नो का जो फल प्राप्त होने वाला था वह अब महारानी त्रिशला को प्राप्त होगा।

स्वप्न मानव-जीवन का अनिवार्य अग हैं। प्राचीन काल मे इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए है और आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भी इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं, जिनमे फ्रायड, एडलर, युंग, डेलेग आदि विद्वान् प्रमुख हैं।

फ्रायड का कथन है कि स्वप्न-अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं।

एडलर स्वप्न को वर्तमान जीवन की समस्याओ का प्रतिविम्ब कहते है।

युग महोदय स्वप्न को अतीत के अनुभवो का अनुकरण मानते हैं।

डेलेग महोदय की मान्यता है कि स्वप्न मे हमारे जीवन के असामजस्य की पूर्ति होती है।

यद्यपि वर्तमान स्वप्न-शास्त्रियो की मान्यताए भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन सब मान्यताओ के इस साराश को अस्वीकृत नही किया जा सकता कि स्वप्न हमारी मानसिक दशा का परिचय देते है स्वप्न हमारे मानसिक जगत के अध्ययन की ऐसी पुस्तक हैं जिसे हम सोकर ही पढ सकते है, जागृत अवस्था में नही।

भूत वर्तमान और भविष्यत् की कोई सीमा नही, जो भूत है वही तो वर्तमान है। एक विद्यार्थी पढ रहा है, विगत दस वर्षो से पढ रहा है। वह आज से दस वर्ष पूर्व भी वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग करते हुए कहता था—'मै पढ रहा हूं' वह आज भी कहता है 'मैं पढ रहा हूं' और यदि वह दस वर्ष और पढता रहा तो वह पाच वर्ष बाद भी वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग करता हुआ कहेगा 'मैं पढ रहा हू'। निष्कर्ष यह कि भूत भविष्यत और वर्तमान

की कोई सीमा नही, अत स्वप्न अतीत के परिचायक भी होते हैं, वर्तमान के प्रतिविम्ब भी होते है और भविष्य की सूचना देनेवाले भी होते हैं।

भारतीय स्वप्न-विज्ञान स्वप्न को प्रतीकात्मक मानता है और मानव-प्रकृति का परिचायक भी। आयुर्वेद के ग्रन्थो मे बताया गया है कि 'स्वप्न मे ऊंची उडाने भरनेवाले व्यक्ति वायु-प्रकृति के होते हैं।' इसका अभिप्राय है कि उड़ान के स्वप्न द्वारा वायु-प्रकृति का परिज्ञान होता है।

स्वप्न चित्त की अवस्था पर निर्भर करते हैं। भगवान महावीर ने साढे वारह वर्ष तक तप करके जिस मानसिक पवित्रता और आध्यात्मिक शक्तियो का विकास कर लिया था उनके स्वप्न उसी के प्रतीक थे।

इन प्रतीकों का आधार भी हमारी जीवन-पद्धति है, हमारे जीवन के अनुरूप स्वप्न-प्रतीक अपना फल दिखलाया करते हैं। एक डाकू द्वारा स्वप्न मे देखा गया सिंह और अर्थ देता है तथा एक महापुरुष द्वारा स्वप्न मे दृष्ट सिंह का अर्थ कुछ और हुआ करता है। अत प्रतीको के निर्माण मे हमारी सामाजिक दशा, पारिवारिक स्थिति, नैतिक मान्यताओं आदि का वड़ा महत्त्व होता है। इसीलिये अक्सर कामी प्रकृति के मनुष्य ही स्वप्नदोष जैसे मानसिक रोगो के शिकार होते हैं।

भगवान महावीर की माता त्रिशला ने एक हीं रात मे १४ स्वप्न देखे। यह चौदह स्वप्न माता त्रिशला के मन की विशिष्ट अवस्था का एव उसकी अभिलाषाओ का तथा गर्भ मे आनेवाले जीव के भावी जीवन का परिचय देनेवाले हैं।

आजकल के स्वप्नशास्त्री विभिन्न व्यक्तियो द्वारा देखे गए एक जैसे स्वप्नो का अध्ययन करते हैं, उनकी तुलना करते हैं, तव उसका निष्कर्ष निकालते है। जैन परम्परा के विद्वानो ने चौवीस तीर्थङ्करों की माताओ द्वारा देखे गए समान स्वप्नो का अध्ययन करके ही यह निष्कर्ष निकाला है कि इस प्रकार के स्वप्न देखनेवाली माताए

तीर्थङ्करो को जन्म देती है। हम नीचे स्वप्न-दृष्ट पदार्थों द्वारा माता त्रिशला की मानसिक दशा का एव भावी तीर्थङ्कर की अभिलाषाओ का परिचय इस प्रकार दे सकते हैं :—

१. सफेद हाथी

माता त्रिशला : वह पवित्र आचरणवाला, किन्तु अत्यन्त बलशाली पुत्र चाहती थी।

महावीर : गर्भस्थ शिशु का जीवन पावन एव शारीरिक शक्ति अपरिमित होगी।

२. सफेद बैल

माता त्रिशला : माता शुद्ध धर्माचरण का पालन कर रही थी (बैल धर्म और बल का प्रतीक है)

महावीर : भावी शिशु धर्म का साक्षात् स्वरूप होगा।

३. सिंह

माता त्रिशला : उसकी भावना थी कि उसका पुत्र महान शासक बने।

महावीर : भावी शिशु जगलो मे रहेगा, वह सिंह के समान निर्भीक होकर हिंसा का विरोध एव पापो का सहार करेगा, वह शासक होगा, धर्म-सघ का, सामान्य प्रजा का नही।

४. लक्ष्मी

माता त्रिशला : माता त्रिशला, चाहती थी कि मेरा पुत्र लक्ष्मीवान हो और घर मे लक्ष्मी सी बहू लाए।

महावीर : भावी शिशु लक्ष्मी को ठुकराकर मोक्ष-लक्ष्मी का वरण करेगा।

५. पुष्पमाला

माता त्रिशला : मेरा भावी पुत्र संगठन एवं एकता का विधाता हो।

महावीर : भावी शिशु चतुर्विध श्री संघ का सगठन करेगा।

६, चन्द्र

माता त्रिशला : मेरी भावी सन्तान सुन्दर हो और वह अनेक पत्नियो

के साथ राज-महल को सुशोभित करे।

महावीर : भावी शिशु अज्ञानान्धकार को दूर कर जगत को शीतलता अर्थात् शान्ति प्रदान करेगा।

७ सूर्य

माता त्रिशला : मेरा पुत्र सूर्यसम तेजस्वी हो।

महावीर : भावी शिशु तप -तेज से मण्डित एव सर्वव्यापक ज्ञान से आलोकित होगा।

८. ध्वजा

माता त्रिशला : मेरा पुत्र अपने कुल के यश की ध्वजा सर्वत्र फहरा दे और वह जगद्-वन्द्य वने।

महावीर : भावी शिशु सर्वत्र धर्म-ध्वजा फहराएगा और जगद् वन्द्य होगा।

९. कलश

माता त्रिशला : मेरी भावी सन्तान सभी दृष्टियो से परिपूर्ण हो।

महावीर : भावी शिशु ज्ञानामृत का वह पूर्ण कलश होगा जिसकी एक बूद पाकर भी लोग धन्य हो जाया करेगे।

१०. पद्म-सरोवर

माता त्रिशला : मेरा भावी शिशु अपनी राजधानी को सुन्दर बनाए और मेरा परिवार पौत्र-प्रपौत्रो से परिपूर्ण हो।

महावीर : भावी शिशु साधु-सघ का विस्तार करेगा और उसका अपना जीवन कमल-पत्र सा निर्लेप होगा।

११. क्षीर-समुद्र

माता त्रिशला : मेरे परिवार मे शाति और समृद्धियां निवास करें।

महावीर : भावी शिशु का सघ दुग्ध-सिन्धु-सा पवित्र और उसके सिद्धान्त सर्व सुखकारी होगे।

१२. देव-विमान

माता त्रिशला : मेरे घर मे जो भी बालक हो वह कोई स्वर्गीय विभूति हो, नारकीय जीव नही।

महावीर : भावी शिशु देव-विमानो को ठुकराकर देव-विमानो की पहुच मे भी दूर सिद्धालय की ऊचाइयो पर पहुचनेवाला होगा ।

१३ रत्न-राशि

माता त्रिशला : मेरा पुत्र पृथ्वी का एक रत्न हो ।

महावीर : भावी शिशु रत्नत्रय का आराधक हो नही, उस पर सर्वतोभावेन अधिकार करनेवाला होगा ।

१४. निर्धूम अग्नि-शिखा

माता त्रिशला : मेरा शिशु सभी प्रकार के दुर्गुणो से मुक्त हो ।

महावीर : भावी शिशु तेजस्वी होगा, परन्तु उसका तेज संसार की आखे खोलनेवाला होगा, वह सब तरह के पाखण्डो से रहित होगा ।

इस प्रकार ये १४ स्वप्न अपने प्रतीकात्मक रूपो मे माता त्रिशला की मानसिक स्थिति, विचार-राशि और अभिलाषाओ के परिचायक हैं और भगवान महावीर के भावी जीवन के द्योतक भी ।

जैन-आगमो के अनुसार सभी तीर्थङ्कर पाच ज्ञानो—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्यवज्ञान और केवलज्ञान के धारक होते हैं । गर्भावस्था मे उन्हे तीन ज्ञान होते है—मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-ज्ञान । ये ज्ञान पूर्व जन्मो की साधना से एव कर्मो का क्षयोपशम होने से हुआ करते हैं ।

महापुरुषो का अवतरण वसुधा के लिये महान् पुण्य का कार्य होता है । महावीर के त्रिशला माता के गर्भ मे आते ही सब ओर मागलिक वातावरण छा गया, देश के कण-कण मे हर्षोल्लास उमड़ पड़ा । पत्ती-पत्ती एव डाली-डाली पर एक नई बहार आ गई । राजा सिद्धार्थ के राज्य-कोष की वृद्धि होने लगी । सिद्धार्थ के शत्रु भी उनके आगे नत-मस्तक होने लगे । सभी प्रकार की समृद्धिया उनके चरणो मे लोटने लगी । जीवो ने अपना-अपना सहज वैर विसरा दिया, मानो वे कभी किसी के शत्रु थे ही नही । अपने कोष की वृद्धि और सब प्रकार की समृद्धि देखकर

राजा सिद्धार्थ और महा रानी त्रिशला ने निश्चयकिया कि इस जीव के गर्भ मे आने से धन-धान्य की वृद्धि हुई है और यश तथा प्रभाव मे समृद्धि हुई है, अत जन्म के पश्चात् इस बालक का नाम 'वर्धमान' ही रखा जायेगा।

मनोविज्ञानवादियो ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि शुभ भावनाओ से भर कर आप यदि कही भी जाते है तो वहा का वातावरण आनन्द-मय और मगलप्रद हो जाता है। सकल्प और भावो मे महान शक्ति है। शुभ परिणामो और शुभ सकल्पो से दूर बैठकर भी हम अपने इष्ट-मित्रो का महान हित कर सकते है और बुरे सकल्पो से दूर बैठे ही किसी का अनिष्ट किया जा सकता है। जबकि साधारण प्राणियो के शुभाशुभ सकल्पो मे हिताहित हो सकता है तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि महाशक्तियो के धारक प्रभु महावीर के माता की कुक्षि मे आने से वातावरण आनन्दित तथा सुखमय बन गया हो तो इसमे विस्मय की कोई बात नही है।

इस प्रकार के जीव अति दयालु और अनुकम्पा से युक्त होते है। उनका हृदय दूसरो के दु खो को देखकर द्रवित हो उठता है। परदु ख-कातरता उनकी जीवन-वाटिका का मधुर फल है। वे नवनीत के समान कोमल हृदयवाले होते हैं। भगवान महावीर अत्यन्त दयालु और अनुकम्पा से युक्त थे। माता के गर्भ मे उन्होने अवधि-ज्ञान से देखा कि मेरी हिलने-डुलने की क्रियाओ से माता को कुछ पीडा होती है, अत उन्होने अनुकम्पा एव मातृ-भक्ति से अपने को योगी की तरह स्थिर कर लिया। मातृ-भक्ति और मातृ-प्रेम का इस से बढकर उज्ज्वल उदाहरण और कौन सा हो सकता है ?

परन्तु इस घटना से माता त्रिशला को गर्भ की निष्प्राणता का भ्रम पैदा हो गया और वह शोक-सागर मे डूब गई। मानो उसके हाथ मे आया हुआ रत्न किसी ने छीन लिया हो।

माता को दुखी देखकर गर्भस्थ महावीर ने विचार किया कि मोह की गति बडी विचित्र है। मैने अपनी माता के सुख के लिये अग-सचालन बन्द किया था, परन्तु मेरी यह क्रिया माता के लिये कष्ट-कारक सिद्ध

हुई है। इस प्रकार महावीर के जीव ने अपनी माता के ऐसे इच्छित और मनोगत सकल्प को जानकर फिर से अग-सचालन आरम्भ कर दिया। माता पुन. हर्षित हो गई। उसका रोम-रोम कमल की भाति विकसित हो गया। अपनी माता के प्रगाढ स्नेह के कारण ही भगवान महावीर ने गर्भ मे ही प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मेरे माता-पिता जीवित है तब तक मैं गृहत्याग कर श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण नही करूगा।

●



चैत्रसितपक्षफाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥
हस्ताश्रिते शशांके चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशी-दिवसे ।
पूर्वाण्हे रत्नघटैर्विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम् ॥

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन, अर्यमा योग में जबकि समस्त ग्रह अपने-अपने उच्च स्थानों पर स्थित थे, चन्द्रमा हस्त नक्षत्र में था, ऐसे शुभ लग्न में आपका जन्म हुआ। चतुर्दशी के दिन पूर्वाह्न में देवेन्द्रों ने रत्न-निर्मित कलशों से आपका अभिषेक किया।

स्तोत्रकार ने जन्म के समय हस्त नक्षत्र लिखा है, परन्तु श्वेताम्बर-शास्त्र उस समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मानते हैं।



जन्म कल्याणक

श्री तिलकधर शास्त्री



जन्म-कल्याणक

० २ ०

हम पिछले अध्याय में भगवान महावीर के च्यवन अर्थात् प्राणत नामक देवलोक से धरती पर आगमन की घटना का विस्तृत परिचय प्राप्त कर चुके हैं, अब हम प्रस्तुत अध्याय मे भगवान महावीर के जन्म कल्याणक एव छद्मस्थ जीवन अर्थात् दीक्षा-ग्रहण से पूर्व के जीवन पर प्रकाश डालेगे ।

पथ की प्राचीनता

जैन सस्कृति की यह दृढ धारणा है कि प्रत्येक युग मे सत्रस्त मानवता की रक्षा के लिये तीर्थङ्कर जन्म लिया करते हैं ।[1] वर्तमान अवसर्पिणी युग के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव थे, जिनका नामोल्लेख वेदो एव पुराणो मे भी प्राप्त होता है । कुछ विद्वान् तो यहा तक स्वीकार करते है कि जैन-सस्कृति की सत्ता आर्यों के आगमन से भी पूर्व यहा पर विद्यमान थी । जैसे कि डा० रामधारी सिंह दिनकर लिखते है[2]— "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमण-

१- "एव सर्वावसर्पिण्युत्सर्पिणीषु जिनं नमा." । —अभिधान-चिन्तामणि

२- सस्कृति के चार अध्याय ।

संस्था भारत मे आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी।"

मान्य जैन ग्रन्थ 'आगम' कहलाते हैं और सभी जैन तीर्थङ्कर 'पण्णत्ते' कहते हैं जिसका अर्थ है कि यह ज्ञान-धारा शाश्वत है, आगम प्रज्ञपित सत्य परम्परा-प्राप्त है, अत केवल इसकी प्ररूपणा की जा रही है अर्थात् उसको पुनः कहा जा रहा है।

मोहनजोदडो की खुदाई में प्राप्त भगवान ऋषभदेव की कायोत्सर्ग-मुद्रा इस विषय का ज्वलन्त साक्ष्य है कि जैन धर्म की प्राचीनता को अस्वीकार नही किया जा सकता। रूसी समाज-शास्त्री श्रीमती गुसेवा ने भी अपनी पुस्तक 'जैनिज्म' में यह स्वीकार किया है कि हड़प्पा के सांस्कृतिक अवशेषों के रूप मे प्राप्त मोहरों पर अंकित स्वस्तिक चिन्ह निश्चित ही जैन-धर्म के प्रतीकों मे से एक है, अतः जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्व की संस्कृति है। यह तो माना जा सकता है कि ऐतिहासिक अन्वेषणों की पहुंच अभी तक वहा नही हुई है जहा से जैन संस्कृति के पूर्वतम अवशेष प्राप्त हो, परन्तु ऋग्वेद[1] आरण्यकों[2] एवं उपनिषदों[3] मे जिन निवृत्ति-धर्मा मुनियो को 'वातरशना' कहा गया है वे जैन मुनीश्वर ही थे। अतएव डॉ० वासुदेव शरण ने स्पष्ट लिखा है कि "प्राचीनकाल मे जब गोव्रतिक, श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक आदि सैकडो प्रकार के सिद्धान्तों को माननेवाले आचार्य थे, उन्ही दिनो निर्ग्रन्थ महावीर भी हुए। श्रमण-परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म मे वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।" श्रीमद्भागवत[4] और वाल्मीकि[5] रामायण मे भी श्रमण-परम्परा के उल्लेख जैन-

१- मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला —ऋ० १०-१३५-२

२- वातरशनाहवा ऋषयः श्रमणा, ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवु।

३- श्रमणोऽश्रमणास्तापसो नन्वागत पुण्येतानन्वागत पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य तरति। —बृहदारण्यक ४-३-२२

४- श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा.। —भागवत १२-२-२०

५- तापसा भुञ्जते चैव, श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥ —वाल्मिकी रामायण १-१४-१२

संस्कृति और ब्राह्मण-सस्कृति के युगो तक साथ-साथ चलते रहने का संकेत करते हैं।

यहाँ एक बात और स्पष्ट करने योग्य है कि दोनो परम्पराए यद्यपि साथ-साथ चलती रही, परन्तु दोनो का लक्ष्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न था। ब्राह्मण-संस्कृति धर्म को जीवन के लिये मानती थी और श्रमण-परम्परा जीवन को धर्म के लिये स्वीकार करती थी, अत ब्राह्मणो के हाथो मे पड कर धर्म एक व्यवसाय बनता जा रहा था और श्रमण-परम्परा मे धर्म आध्यात्मिक साधना का उच्चतम रूप उपस्थित कर रहा था। ब्राह्मण-सस्कृति भौतिक सुखो के लिये धर्म-साधना करती थी और जैन सस्कृति की साधना का लक्ष्य था आत्म-साक्षात्कार। ब्राह्मण-सस्कृति मे प्रेय की प्रधानता रही और जैन-सस्कृति मे श्रेय की। ब्राह्मण-सस्कृति ने "जीवेम शरद· शतम्"—आदि के रूप मे देवताओ से जीवन-साधनो की भिक्षा मागी, देवो का दासत्व स्वीकार किया, परन्तु श्रमण-परम्परा ने आत्म-ज्ञान के लिये ससार की समस्त सम्पत्तियो को स्वाहा कर देवाधिदेव बनने का मार्ग प्रशस्त किया। ब्राह्मण-धर्म प्रवृत्ति-परायणता को महत्त्व दे रहा था और जैन सस्कृति निवृत्ति-परायणता को प्रमुखता दे रही थी।

महावीर की आवश्यकता

वैदिक सस्कृति की लोक-कल्याणाभिमुखता के कारण जनमत उस ओर आकृष्ट हो रहा था यह सत्य है, परन्तु उपनिषदो के काल मे लोक-परायणता एव हिंसा-प्रधान यज्ञीय कृत्यो से जनता का मन निवृत्तिमार्ग की ओर मुड गया था। यही कारण है कि छान्दोग्य उपनिषद मे 'यज्ञो' को टूटी-फूटी नाव बताया गया है, परन्तु ब्राह्मणो का प्रवृत्तिवाद जन-मन को ऐसे जकडे हुए था कि वह निवृत्ति-मार्ग की श्रेष्ठता को समझ कर भी उसकी ओर उन्मुख नही हो पाता था। ब्राह्मण वर्ग ने वेदो को आजीविका का साधन मान कर उस पर पूर्ण अधिकार कर लिया था और उन अधिकारो की सुरक्षा के लिये यहा तक विधान बनाए कि यदि शूद्र वेदमन्त्र सुनले तो उसके कानो मे गरम शीशा और लाख डाल दी जाए, यदि वह उच्चारण करे तो

उसकी जीभ काट दी जाय और वेदो को याद करले तो उसका शरीर काट दिया जाय।[1]

यज्ञीय हिंसा के कारण महाभारत युग से पूर्व तक का राजाओ का वहुत वडा वर्ग हिंसावादी वन गया था, उसी हिंसा की भयकर प्रवृत्ति ने महाभारत जैसे भयकर युद्ध को जन्म दिया, यही कारण है कि महाभारत के काल से ही वैदिक ऋषि भी अहिंसा को परम धर्म कहने लग गए थे। महाभारत के अनुशासन पर्व मे कहा गया है—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥

—महा० अनु० १२६-२

अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम दम है, अहिंसा ही सवसे वडा दान है और अहिंसा ही सवसे वडा तप है।

महाभारत काल मे वाईसवे तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ जी हुए थे, यदुवशीय क्षत्रियो पर उनका प्रभाव भी था ही, अतः श्रीकृष्ण के भागवत-धर्म मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अनहकार आदि तत्वो की प्रधानता है, परन्तु तत्कालीन समाज के शास्ता ब्राह्मणवर्ग ने उन अहिंसा-स्वरो को विशेष उभरने नही दिया, अत., "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" का स्वर मन्द नही हो पाया।

भगवान महावीर के काल तक हिंसावादी क्षत्रिय-कुल प्राय. अपनी शक्ति खो चुके थे, पूर्व के काशी, कोशल, विदेह आदि गण-राज्यो मे भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी अहिंसा-धर्म का प्रचार करना चाहते थे, परन्तु उस प्रचार के लिये जिस जीवट की आवश्यकता थी वह जीवट उनमे न था। उसी जीवट की पूर्ति के रूप में भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

यह ठीक है कि वैदिक काल तक ब्राह्मण सस्कृति नारी जाति को पुरुष के समान ही आदर देती थी, गौतमी आदि इसके निदर्शन हैं,

१- अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोत्रपरिपूरणम्,
उदाहरणे जिन्हाच्छेदो, धारणे शरीरभेद।

—गौतम धर्मसूत्र १२५

परन्तु महाभारत काल के पास पहुंचते-पहुंचते नारी केवल समाज की बीमारी रह गई थी, अब उसके अधिकार भी केवल पति-पादोदक तक सीमित हो गए थे। शूद्रो के समान अब उसे भी खुले आम बाजारो में बेचा जाता था। चम्पापुर नरेश महाराज दधिवाहन की पुत्री वसुमती (जो चन्दना के नाम से साध्वी रूप मे महावीर के साध्वी-सघ की प्रमुख बनी) का कौशाम्बी के बाजार मे बेचा जाना इसका प्रमाण है। इस प्रकार नारी निरीह बन चुकी थी, नारीत्व कराह रहा था, सडी गली रूढियो की दुर्गन्ध से उसका दम घुट रहा था, अत. नारी-हृदय ऐसी भयावह परिस्थिति मे किसी महाशक्ति का आवाहन कर था। इसी आवाहन के आकर्षण ने 'महावीर' को अवतरित किया था।

बेचारी दुनियारी तो भिखारी बन ही चुकी थी, परलोक विषयक सत्य भी तिरोहित हो रहा था। 'मोक्ष' शब्द तो केवल कोषो की शोभामात्र रह गया था। स्वर्ग ही सब का लक्ष्य था, क्योकि वहा पर सुन्दरियो के आकर्षण हैं, दैहिक दु.खो का अभाव है, मनचाहे सुखो की प्राप्ति एव स्वर्गीय लोभावरणो से जन-मन को स्वर्ग-परायण बनाया जा रहा था। इतना ही नही यज्ञो मे मारे गए पशुओ की भीड भी स्वर्ग में ही बढ रही थी। ऐसी दशा मे धर्म-मर्यादाए भटक रही थीं, रूढियो से जकड रही थी, अनेकवाद अपने-अपने विचारो के बाडो मे पशुओ की तरह जनता को बन्द कर रहे थे। उस समय लगभग ३६३ मत-मतान्तर जनता को मिथ्या आडम्बरो मे उलझा रहे थे।

इस प्रकार खोई-खोई सी जनता त्राण चाहती थी, पथ-प्रदर्शन चाहती थी, उस गहन अधकार मे ज्योति चाहती थी 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के स्वर किसी ज्योति-पुरुष को पुकार रहे थे, इसी पुकार की पूर्ति के रूप मे भगवान महावीर के चरणो ने इस धरा को पावन किया था।

वैशाली का सौभाग्य जागा

जन्म और मृत्यु ये दोनो हमारे जाने-पहचाने शब्द हैं, क्योकि यहां हम प्रतिदिन जन्म और मरण देखते रहते हैं। जन्म हमारे लिये

उत्सव बन कर आते हैं इसीलिये यहां जन्मोत्सव मनाए जाते हैं, परन्तु भगवान महावीर की दृष्टि में जन्म का कोई महत्व नहीं, क्योंकि जन्म तो मृत्यु का कारण है। जन्म लेनेवाले को मृत्यु की शरण में अवश्य जाना पड़ता है और मृत्यु मनुष्य का जन्म के लिये ढकेलती रहती है। इस प्रकार जन्म और मृत्यु का खेल युग-युगान्तरों से चल रहा है। भगवान महावीर इस खेल में सन्तुष्ट न थे। इसलिये वे अब इस खेल को समाप्त करना चाहते थे, परन्तु इस खेल की समाप्ति के लिये जन्म लेना अनिवार्य था।

इसीलिये उन्हें जगज्जननी त्रिशला के गर्भ से जन्म लेना पड़ा, परन्तु मृत्यु पर विजय पाने के लिये, जन्म मरण की क्रीड़ा को सदा के लिये समाप्त करना ही उनके जन्म का लक्ष्य था, इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये उन्होने वैशाली मे जन्म लिया।

वैशाली विहार प्रान्त मे वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले की गण्डक नदी के तट पर बसा एक महानगर था, आजकल उसके खण्हरों पर बसा एक छोटा सा ग्राम है 'बेसाढ पट्टी।' इसकी दूरी पटना से लगभग २७ मील है।

जन्म-कल्याणक का समय

यह तो सर्वमान्य है कि भगवान म ावीर के चरणो ने पहली बार चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन ही इस धरा को पावन किया था, किन्तु उनके जन्म-सम्वत् के विषय मे अनेक मान्यताओं के कारण कुछ मत-भेद हो जाता है, परन्तु अब प्राय: विद्वानो ने एक मत होकर यह स्वीकार कर लिया है कि उनका जन्म ई० पू० ५९८ मे हुआ था। इसका आधार श्री हेमचन्द्राचार्य जी का परिशिष्ट पर्व है। डा० याकोबी और शार्पेन्टियर आदि विद्वानो ने भी उनका यही जन्म सम्वत् स्वीकार किया है। आजकल १९७४ ईसवी सन् है। इसमें उनका निर्वाण-वर्ष ई० पू० ५२६ जोड़ने पर ही २५०० सौवी निर्वाणशती इस वर्ष में मनाई जा रही है। इसमे जीवनकाल के ७२ वर्ष और जोडने पर उनका जन्म ई० पू० ५९८ स्वीकार करना पडता है।

माता की धन्यता-पिता की सिद्धार्थता

वैशाली लिच्छवियो का महान गणतन्त्र राज्य था। इस राज्य के

प्रमुख थे महाराज चेटक। उन्ही की वहिन थी त्रिशला, जिसे वे प्यार से "प्रियकारिणी" भी कहते थे। प्रियकारिणी त्रिशला मे एक आदर्श भारतीय नारी के सभी गुण विद्यमान थे, वह तपस्विनी धर्मप्रिया नारी थी उसकी गुण-गरिमा से वैशाली धन्य थी।[1]

प्रियकारिणी त्रिशला का विवाह ज्ञातृगण के प्रमुख महाराज सिद्धार्थ से हुआ था और भगवान महावीर के जन्म से पूर्व माता त्रिशला नन्दीवर्धन नामक गुणवान पुत्र एव सुदर्शना नामक गुणवती कन्या को जन्म दे चुकी थी।

उसकी दिनचर्या का वर्णन करते हुए कल्प सूत्र मे कहा गया है—

"वह त्रिकाल सामायिक और दोनो कालो मे आवश्यक क्रिया करती थी, दीन-हीन-जन-उपकारिणी, पतिव्रता, धर्म-विमुखो मे धर्म का प्रसार करनेवाली, गुरु-वाक्यो पर श्रद्धा रखनेवाली, प्रियधर्मा और दृढधर्मा थी तथा करुणा के कवच से अन्त.करण की एव धर्म की रक्षा करनेवाली थी।"

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला भगवान् पार्श्वनाथ के उपासक और श्रमण-सस्कृति के अनुयायी थे।[2] इतना ही नही वैशाली मे जैनधर्म का एक-छत्र राज्य था, अर्थात् सब लोग जैन-धर्म के अनुयायी थे।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि जैनधर्म वैशाली गण-राज्य का राजधर्म था।

इस प्रकार नौ मास सात दिन बाद वैशाली का विशाल प्राङ्गण महावीर के पुनीत चरणो का पावन स्पर्श पाकर पावनता से परिपूर्ण हो उठा, मां त्रिशला के सभी शल्य शान्त हो गए, पिता सिद्धार्थ के सभी अर्थ सिद्ध हो गए। भाई नन्दीवर्धन के सवर्धनार्थ सभी साधन समृद्ध हो गए, भारतवर्ष उन विलक्षण सरक्षणशील क्षणो का आभारी है जिन्होने धरती को तरणतारणहार तीर्थङ्कर का वरदान दिया, धरती को तीर्थङ्कर की धरती होने का सौभाग्य प्रदान किया और भारत को भाग्यवान किया।

१. देखिये कल्पसूत्र द्वितीय वाचना।

२. महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा (आचाराङ्ग)

३ एगायपत्तायमाण—आरहयधम्मो तत्थ णगरे। (कल्पसूत्र)

भारत के भाग्य खुल गए, पाप-पंक के कलंक धुल गए। हिंसा की संहनन-शक्तियो का संहनन हो गया, पाखण्ड खो गया, रूढियो का बल सो गया। जनता मे जागृति आई, उसने नवचेतना पाई, पुण्य की लहर दौडी, पाप-प्रवृत्ति छोडी, माया के बन्धन तोडे, समस्त दुष्कृत्य छोडे। भारत का इतिहास उल्लास से भर गया, उसके कोरे पृष्ठो पर स्वर्णाक्षर अङ्कित होने लगे, सुप्त अहिंसा जागी, चोरवृत्ति भागी, सत्य ने आख खोली, मुखरित हुई ब्रह्मचर्य की बोली, परिग्रह पल्ला छुड़ा कर चल पड़ा, श्रमण-सस्कृति का झण्डा गडा। सिसकती मानवता मुस्करा उठी, हिंसा कराह उठी। तीर्थङ्कर के जय-जयकारो से अम्बर भर गया, जग तर गया।

उनके जन्म के प्रभाव से अपराधियो ने अपराध करने छोड दिए। महाराज सिद्धार्थ ने बड़े-बड़े अपराधियो के अपराधों को क्षमा कर दिया, राज्य भर के बन्दीगृह खाली हो गए। सारा क्षत्रिय-कुण्ड उल्लास और प्रसन्नता का कुण्ड ही बन गया। निरन्तर दस दिन तक जन्म-महोत्सव की चहल-पहल मे वैशाली आनन्दशालिनी बनी रही।

जैनो की धार्मिक आस्था के अनुसार इस जन्मोत्सव मे इन्द्र, देवगण तथा दिशा-कुमारियो ने भी भाग लिया था, उनका मेरुपर्वत पर जन्म अभिषेक किया गया था।

हो सकता है कि यह देवोत्सव की घटना भी आज के भौतिक युग मे बुद्धिवादी स्वीकार न करे, ऐसी दशा में इस घटना का आध्यात्मिक अर्थ भी किया जा सकता है।

भगवान् महावीर के जन्म लेते ही प्रसूतिगृह मे छप्पन दिशा कुमारियो का आगमन हुआ—इन छप्पन दिशाकुमारियो के नाम और दिशाए यह सकेत करती हैं कि सभी दिशाओ की समृद्धिया उस दिन माता त्रिशला के घर में प्रविष्ट हो गई जिस दिन भगवान् महावीर वहा प्रकट हुए—जैसे पृथ्वी के नीचे रहनेवाली भोगकरा (सुख साधनो को जन्म देनेवाली) भोगवती आदि दिशा कुमारियो ने प्रसूतिगृह को शुद्ध और सुगन्धित किया। पृथ्वी का गन्ध गुण प्रसिद्ध ही है और पृथ्वी के निधानो से हम अपरिचित भी नही हैं।

आकाश से आने वाली दिशाकुमारिया, मेघकरा (मेघ-बनाने

वाली) मेघवती, सुमेधा आदि नाम महावीर के जन्मकाल से ही राज्य के लिये सुवृष्टि का सकेत कर हैं।

पूर्वदिशा से आनेवाली नन्दोत्तरा (आनन्द-कारिणी) नन्दा, आनन्दा, विजया आदि दिशा कुमारिया सुख एव आनन्द के सवर्धन के आगमन की सूचना दे रही हैं।

दक्षिण से आनेवाली, यशोधरा, लक्ष्मीवती, वसुन्धरा आदि दिशाकुमारिया, यश, लक्ष्मी एव रत्न-भण्डार की अधिकता को व्यजित कर रही हैं।

पश्चिम दिशा से आनेवाली पद्मावती, सीता, भद्रिका आदि रुचक पर्वत निवासिनी दिशाकुमारियां रुचिकारक वातावरण के निर्माण की ओर सकेत कर रही है, अतएव इनके हाथो मे पखे होने का निर्देश किया गया है।

उत्तर से आनेवाली हासा, सर्वगा, श्री, ह्री (लज्जा) ये दिशा-कुमारिया मुस्कान लक्ष्मी, लज्जाशीलता आदि गुणो के आगमन को प्रकट कर रही है।

चित्रा, चित्र-कनका आदि चार दिशाकुमारिया जो चारो दिशाकोणो से आई थी वे सुख-समृद्धियो की विविधता का सकेत दे रही हैं।

मध्यमार्ग से आनेवाली रूपा, रूपांशा, सुरूपा और रूपवती ये दिशाकुमारिया सौन्दर्य-वृद्धि को व्यजित कर रही है।

इस वर्णन की सांकेतिक अर्थ-प्रणाली भगवान् महावीर के जन्म लेते ही वैशाली मे शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एव सभी प्रकार की समृद्धियो के आगमन की सूचना दे रही हैं।

इसके अनन्तर कल्पसूत्र मे सुधर्मा स्वामी वहा पर देवो-सहित इन्द्र और इन्द्राणी के आगमन, उनके द्वारा महावीर को मेरु पर्वत पर ले जाने और वहा पर उनके अभिषेक की सूचना देते है। यदि इस घटना का भी प्रतीकात्मक अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो आज के बुद्धिवादी की परितुष्टि हो जाएगी।

"सौधर्म देव लोक' से 'इन्द्र' का आगमन यह सूचना देता है

कि सुन्दर धर्म भाव (सौधर्म) की दिव्य ज्योति (इन्द्र) अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ आई, उसने महावीर को मेरुपर्वत पर बिठाया अर्थात् सुस्थिरता प्रदान की। अभिषेक उनकी जन्म-जात पावनता एवं मानसिक विशुद्धि का परिचय दे रहा है।

इन्द्र के द्वारा पांच रूप धारण करके[1] भगवान को उठाना भी इसी ओर संकेत करता है कि उस धर्मज्योति ने पंच परमेष्ठी की आराधना करनी है, अहिंसा आदि पांच महाधर्मों का उन्नयन करना है। साथ ही महावीर के द्वारा अंगूठे से मेरु को कम्पित करने का अर्थ है, मेरु हिल सकता है, धरती कांप सकती है, परन्तु महावीर अपनी दृढ़ता से विचलित नहीं हो सकते। भगवान की इसी दृढ़ता को देखकर इन्द्र ने उनको 'महावीर' कहा था।[2]

इस प्रकार कल्पसूत्र में वर्णित क्षत्रिय-कुण्डग्राम का महोत्सव उपर्युक्त दैवी समृद्धियों की ही सूचना देता है।

नामकरण संस्कार के समय महाराज सिद्धार्थ ने कहा इस बालक के जन्म की सम्भावना वाले दिन से ही राज्य में सुख-समृद्धि, वातावरण की पावनता, मानसिक भावों में पवित्रता एवं सर्वत्र मनोनुकूलता बढ़ रही है, अतः इस बालक का नाम 'वर्धमान' रखा जाए। इस प्रकार 'महावीर' और वर्धमान ये दोनों नाम उन्हें प्राप्त हुए।

माता की गोद भर गई, वर्धमान बढ़ने लगे और साथ ही धन से भण्डार भरने लगे, जलाशय बढ़ने लगे, खेतियां लहलहाने लगीं, नैरोग्य सवृद्ध होने लगा, चारों ओर सुभिक्ष छा गया।

वर्धमान की बाल-तेजस्विता, उनके पैर पर शेर का चिह्न, उनकी प्रखर बुद्धि, उनकी जन्मजात ज्ञान-गरिमा उनके शैशव में ही अंकुरित विरक्ति की भावनाएं, उनकी सहिष्णुता, उनकी प्राणिमात्र के प्रति करुणा को देखकर सबका अनुमान यही कहता था 'वर्धमान' इस युग का तेजस्वी महापुरुष बनेगा। उनका जीवन मानो धर्म का उन्मुक्त द्वार है।

१. पंच सक्करूवे विउव्वइ। कल्पसूत्र

२. सिरि महावीरेति नाम कयं। कल्पसूत्र

वीर की वीरता प्रत्यक्ष हो उठी

वर्धमान अब आठ वर्ष के हो चुके थे, परन्तु उनकी शारीरिक क्षमता मानो अठारह वर्ष पार कर चुकी थी। उनकी शक्ति जवान हो चुकी थी।

वर्धमान अभी बालक ही तो थे, बालको के साथ खेले बिना बचपन की सार्थकता कहा ? वे खेल रहे थे बच्चो के साथ। तभी वहाँ पर एक भयकर सर्प आ गया, सर्प की विशाल आकृति एव उसकी भयकर फूत्कारो से बालक भयभीत हो गए, कोई वृक्ष पर चढ गया, कोई भाग खड़ा हुआ, सर्प वर्धमान महावीर के सामने आकर खड़ा हो गया।

महावीर वर्धमान ने सर्प की ओर देखा और मुस्कराने लगे, तभी उन्होने बच्चो से कहा—'अरे ! सर्प से घबराते क्यो हो ? सर्प तो देवता होता है, देवता से डर कैसा ? बेचारा भटक कर यहा आ गया है, हो सकता है हमारे साथ खेलना चाहता हो, तभी उन्होने दोनो हाथ आगे बढाए और सर्प को उठा लिया।

बालक चिल्लाने लगे—'वर्धमान यह अजगर जैसा सर्प तुम्हे काट लेगा, छोड दो वर्धमान इसे। वर्धमान अब भी मुस्करा रहे थे। उन्होने फिर कहा—मित्रो ! जब हम सर्प को दुख नही दे रहे तो यह हमे दु ख क्यो देगा ? दु.ख की सम्भावना उसी प्राणी से हो सकती है जिसे हम दुख देते हैं, अतः इससे डरो नही, बेचारा हाथो से छूटना चाहता है। तभी उन्होने उस सर्प को कुछ दूर ले जाकर छोड दिया। सर्प मुक्त हुआ, वह जेल से छूटे कैदी की तरह भागा, उसने सोचा—प्राण बचे सो लाखो पाए।' आज बालको के हृदय ने पहली बार वर्धमान का वह नाम दोहराया जो नाम उन्हे इन्द्र ने दिया था—''वर्धमान तुम तो महावीर हो, तुम्हे इतने बड़े सर्प से भी भय नही लगा।" महावीर ने कहा —'भय उसी को सताता है जो किसी से शत्रुता रखता है और अन्यो को भयभीत करना चाहता है। सर्प से हमारी कौन सी शत्रुता थी? हमने उसे डराने-धमकाने की भी कोई चेष्टा नही की, फिर हमे उससे डर क्यो लगता ?

देवत्व ने मानवता के चरण पकड़े

महावीर खेल रहे थे इष्ट-मित्रो के साथ। तभी वहां एक हृष्ट-पुष्ट वालक भी आ गया। आकृति से तो वालक ही था, परन्तु उसका वलिष्ठ शरीर उसके वचपन को ढाप रहा था। पकड़ा-पकडाई का खेल खेला जा रहा था, अत. जो पकड मे आ जाता वह पकडनेवाले को पीठ पर चढाकर सवारी देता था। आगन्तुक दुष्ट वालक जानबूझ कर महावीर वर्धमान की पकड मे आ गया, अत: उसने वर्धमान को पीठ पर चढा लिया और जगल की ओर भागा। महावीर ने कहा—'अरे देवता कहा ले जा रहे हो ?" वह और तेज भागा।

'अच्छा तो यह वात है ?" कहते हुए वर्धमान ने उसकी पीठ को जोर से थपथपाते हुए कहा—'भागो भाई भागो। भागकर जाओगे कहा ? कहां तक भागोगे ? भला भगोड़ो को भी कभी सफलता मिली है।"

भगोड़े को ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसकी पीठ पर किसी ने पर्वत ही रख दिया हो, महावीर की थपथपाहट उसे वज्र-प्रहार सी प्रतीत होने लगी। आखिरकार वह हाफने लगा, वह खड़ा हो गया। उसने महावीर से कहा—'वर्धमान मेरी पीठ से उतर जाओ।

वर्धमान उतर कर सामने खड़े हो गए और वोले—"अरे देवता -स्वरूप ! मुझे यहां क्यो ले आए ?"

यह सुनते ही उसने हाथ जोडे क्षमा मांगी और कहा—"वर्धमान तुम सचमुच महावीर हो ! मैं देवता कहलाने योग्य कहा हूं ? मैं तो दैत्यो से भी गया वीता हूं, क्या मुझे क्षमा नही करोगे ?

'क्षमा कैसी मित्र ? कष्ट तो तुम्हे ही हुआ है कि मुझे यहा तक पीठ पर विठला कर लाए हो। तुम्हे कष्ट अवश्य हुआ होगा, क्षमा तो मुझे मांगनी चाहिए।

'क्षमामूर्ति ! मेरे प्रणाम स्वीकार करो !' यह कह कर वह चल दिया। वालक भी डरते-डरते एव भागते-भागते वही आ पहुचे। उन्होने वर्धमान को सकुशल देखा तो पूछा—'कहा गया वह दुष्ट ?'

वर्धमान का उत्तर था—'उसे दुष्ट कहने से हमे क्या लाभ होगा?

वह चला गया हमे सवारी देकर। वह सासारिक खेल में उलझने के लिये आया था और उसी उलझन मे उलझ कर चला गया है।'

वालक वर्धमान को पाकर प्रसन्न थे, परन्तु वे वर्धमान की वाणी का अर्थ नही समझ पाए। यह तो महावीर ही जानते थे कि उसने कपट करके अपने ससार-भ्रमण को ही वढाया है।

अनेकान्त का जन्म

महावीर जब भी एकान्त मे वैठते तो वे घण्टो आत्म-चिन्तन मे लीन रहते थे। एक दिन वे अपने वहुमजिले महल की वीच की मजिल मे वैठ कर खिडकी मे से संसार की दशा को देखकर आत्म-लीन हो रहे थे।

तभी कुछ वालक नीचे खडी माता त्रिशला के पास पहुचे और उन्होने पूछा—'मां जी! वर्धमान कहा है ?'' माता त्रिशला ने उत्तर दिया—'ऊपर हैं।'' वच्चे सव मे ऊपर वाली मजिल पर जा पहुचे। वहा महाराज मिद्धार्थ वैठे हुए थे। उन्होने उनसे पूछा—'पिता जी! वर्धमान कहां है।' उत्तर मिला नीचे है।

वच्चे नीचे आ रहे थे तभी उनकी दृष्टि वीच की मजिल मे वैठे हुए महावीर पर पडी। वे महावीर के पास पहुचे, और बोले—माता जी ने कहा—'आप ऊपर है।' ऊपर वैठे हुए पिता जी ने कहा—'आप नीचे है।' पर आप तो यहा वैठे हैं।

चिन्तन शील महावीर की प्रतिभा ने कहा—'माता जी ने ठीक ही कहा, क्योंकि नीचे की मजिल की अपेक्षा मैं ऊपर था और पिता जी ने भी ठीक ही कहा है—'मैं ऊपर की मजिल की अपेक्षा नीचे था।'' ससार के प्रत्येक पदार्थ को सव अपनी-अपनी अपेक्षा मे ही देखते हैं, अत. जो किसी की दृष्टि मे ऊपर है वही किमी की दृष्टि मे नीचे है।' इसी विचार के साथ महावीर के हृदय का प्रसुप्त अनेकान्तवाद जाग उठा।

वे वहुत देर से खिडकी मे वैठे हुए एक कौए को देख रहे थे, उन्होने मित्र-वर्ग मे पूछा—'यह कौआ किस रग का है? मित्रो का उत्तर था ''काले रग का''। महावीर वोले 'अस्थियो को दृष्टि से क्यो

न इसे सफेद कहा जाय और लाल रक्त की दृष्टि से क्या कौए को लाल नही कहा जा सकता ? अनेकान्त का सिद्धान्त धीरे-धीरे उभरता चला आया।

पूर्व-जन्मार्जित विद्या

वर्धमान महावीर को माता-पिता ने शिक्षा के लिये गुरु के पास भेजने का निश्चय किया। वैशाली के प्रसिद्ध कलाचार्य के पास उन्हे शिक्षित होने के लिये ले जाया गया, परन्तु यह घटना ऐसी ही थी मानो आम्रवृक्ष को आम्रपत्रो की तोरणो से सजाने का प्रयास किया जा रहा हो। मानो अमृत को मीठा करने के लिये उस मे शर्करा घोली जा रही हो, या चान्द को सफेद करने के लिये दूध से धोने की योजना बनाई जा रही हो।

गम्भीर धीर महावीर ने माता-पिता की आज्ञा का पालन किया, और वे विद्यालय मे कलाचार्य के पास जा पहुचे। कलाचार्य के पास बैठे एक वृद्ध ब्राह्मण ने (जो वस्तुतः इन्द्र था) वर्धमान से कुछ व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न किये। महावीर ने उत्तर के रूप मे पूरा व्याकरण-शास्त्र समझा दिया। कलाचार्य की विद्या गोते खाने लगी। अब वृद्ध ब्राह्मण ने कुछ अध्यात्मिक प्रश्न किए। उनके उत्तर मे वर्धमान महावीर ने समस्त अध्यात्म-शास्त्र ही कह डाला। कलाचार्य ने महाराज सिद्धार्थ से निवेदन किया—'देव! मुझे जो कुछ पढ़ना था वह इस बालक से पढ लिया है, भला आज तक कभी कोई सरस्वती को भी पढा सका है। इस बालक की बुद्धि साक्षात् सरस्वती है, मैं इसे वन्दनाए ही कर सकता हू। पिता सिद्धार्थ तो पहले से ही बहुत कुछ समझे बैठे थे, वे मौन भाव से वर्धमान को साथ लेकर हाथी पर बैठे और घर को लौट आए।

तानी उलझी सुलझने के लिये

महावीर के शरीर मे प्रवेश कर यौवन धन्य हो उठा, उनके सुगठित शरीर, वर्चस्वी आकृति, ऊर्जस्वी मन, ओजस्वी मुखाकृति और शरीर के रोम-रोम से फूटता पुरुषार्थ देख कर वैशाली का जन-जन मुग्ध था।

प्रत्येक माता-पुत्र के विवाहोत्सव की चाह को मन मे सजोए ही

रखती है। लडकी के पिता भी पुत्री के लिये योग्य वर खोजते ही रहते हैं। माता त्रिशला का मन अब पुत्र-वधू लाने के लिये लालायित हो उठा और दूसरी ओर साकेत-नरेश महाराज समरवीर अपनी सर्वाङ्ग-सुन्दरी पुत्री यशोदा के लिये सुन्दर वर की तलाश कर ही रहे थे। माता त्रिशला की अभिलाषा और यशोदा का सौभाग्य परस्पर मिल गए और विवाह की तैयारिया होने लगी।

वर्धमान महावीर के सामने विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ, वे विचार मे पड़ गए चिन्तन के सागर मे डूब गए। वे अपना लक्ष्य जानते थे। माता त्रिशला के स्वप्नो के माध्यम से सिद्धार्थ भी जानते थे कि 'निर्धूम अग्नि के रूप मे दिखी तप की अग्नि मे अपने जीवन की आहुति डाले विना वर्धमान नही रह सकते, परन्तु उन्होने महारानी त्रिशला का मन रखा और विवाह की तैयारिया करने लगे।

महावीर माता-पिता की आज्ञा के विरुद्ध चल कर अपने क्षत्रि-यत्व की परम्परा को दूषित न करना चाहते थे। उन्हे कर्म-विधान की अटलता का भी पूर्ण ज्ञान था, यशोदा के संग रह कर कुछ कर्मो का भुगतान भी उन्हे करना ही था और एक तीसरा कारण भी था, महावीर सहज जीवन के अभ्यासी थे, वे लडना एव विरोध करना नही जानते थे, इसी कारण उन्होने विवाह का भी विरोध न किया।

विवाह प्रकृति है, प्रकृति का विरोध विकृति है और प्रकृति एव विकृति से निर्विरोध ऊपर उठना सस्कृति है। महावीर सस्कृति के उन्नायक वन कर आए थे, वे नाना प्रकार के विकारो की राख मे दवी सस्कृति के महानतम उज्ज्वल रूप को प्रकट करना चाहते थे, अत उन्होने विवाह का भी विरोध नही किया। विरोध का अर्थ है प्रेम एव आसक्ति, क्योकि आसक्ति और विरोध एक ही लाठी के दो सिरे है। एक सिरे वाली लाठी होती ही नही, अतः विरोध के पीछे आसक्ति रहती ही है। महावीर आसक्ति और विरक्ति किसी का विरोध नही करना चाहते थे, अत उन्होने विवाह का भी विरोध नही किया।

फिर विवाह श्रावक जीवन का ही एक अग है, जिस महान विरक्त जीवन के लिये वे अपने आपको प्रस्तुत कर रहे थे, उसके लिये देशविरक्तित्व की भूमिका भी प्रस्तुत होनी ही चाहिए थी, उनका विवाह

उसी जीवन की एक भूमिका थी। अत. विवाह सम्पन्न हुआ।

उनका विवाह कितने वर्ष की अवस्था मे हुआ और उन्होने कितने वर्ष तक वैवाहिक जीवन व्यतीत किया, इसका लेखा-जोखा इतिहास के पर्दे के पीछे छिप चुका है, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय आवश्यक निर्युक्ति के 'कुमार-प्रव्रजित' शब्द के आधार पर उनके वैवाहिक जीवन से सहमत नही है, किन्तु कल्पसूत्रकार उनके वैवाहिक जीवन की स्पष्ट घोषणा करते है।

ज्वालामुखी उफनने लगा

महावीर के हृदय का वैराग्य अब बाहर आने लगा, ज्वाला-मुखी का लावा अन्दर ही अन्दर कब तक रह सकता था, फिर भी उन्होने माता-पिता से विरक्त जीवन मे जाने की आज्ञा नही मागी, क्योकि वे गर्भस्थ-काल मे ही माता-पिता के रहते हुए प्रव्रजित जीवन न अपनाने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, अत: उनके हृदय मे विरक्ति का लावा उफनता रहा, फिर भी उन्होने राज-महलो के जीवन का परित्याग नही किया वे रहते रहे घर मे ही, परन्तु अनासक्तभाव से, उदासीनवृत्ति से, समता पूर्वक। कमल पानी मे रहता रहे, पर पानी मे इतनी शक्ति कहा है कि वह उसका स्पर्श कर सके। महावीर घर मे ही रहे, परन्तु घरेलू व्यव-हारो से वे निर्लिप्त रहकर प्रतिक्षण ऊपर उठने का महाप्रयास निरन्तर करते रहे।

मुक्ति-मार्ग खुलने की प्रतीक्षा में

"आया है सो जायेगा, कौन सकेगा रोक।" आखिर माता त्रिशला एव महाराज सिद्धार्थ ने व्रतोपवास पूर्वक शुभ भावना भाते हुए शरीर छोड़ दिया और चले गए उन देवलोको की ओर जहा बैठ कर वे अपने पुत्र के सुर-नर-वन्द्य तप.पूत अरिहन्त रूप के दर्शन कर सके।

चिता शान्त : चित्त अशान्त

चिताओ पर चैत्य बन गए। नन्दीवर्धन ने पितृदायित्व सभाल लिये। महावीर ने भाई नन्दीवर्धन से कहा—'भैया! मुझे आर्त मान-वता पुकार रही है, त्याग और वैराग्य मेरी प्रतीक्षा कर रहे है, जबकि

ससार सन्तप्त है, पीडित है, शोषित है तो मुझे ऐश्वर्यमय जीवन जीने का क्या अधिकार है ? मैं जरा-मरण के वेग मे बहना नही चाहता, मै इस वेग को पार करूगा और ससार के लिये समता का वह सेतु तैयार करने का प्रयास करूगा जिससे जनता भी इस भव-नद से सहज ही पार हो सके।

नन्दीवर्धन की आखे प्रेम-विह्वल हो उठीं। वे सोचने लगे—'वर्धमान मेरे अनन्तर इस ससार मे आया है और वह मुझ से पहले इसे छोडना चाहता है, वय मे कम पर प्रज्ञा मे श्रेष्ठ है। सन्तप्त मनुजता की शान्ति के लिये कितना आतुर है इसका करुणा-पूर्ण हृदय ? क्या कहूं इसे ? वे चिन्ता मे डूब गए।

वर्धमान ने फिर कहा—'भैया ! भोग साथ नही जाते, माता-पिता हमे छोड गए है, यह राज्य-वैभव न जाने हमसे पूर्व कितनो के द्वारा छोडा जा चुका है ? परन्तु राज्य-वैभव हमे छोडे इसमे कोई आनन्द नही, आनन्द तो इसमे है कि हम पहले ही इसे छोड दे। आज्ञा दो भैया ! मैं इसे सहज भाव से त्यागने के आनन्द से कही वचित न रह जाऊ।'

नन्दीवर्धन 'हा' नही कह सके। वे इतना ही कह पाए 'वर्धमान ! अभी ठहरो। दुनिया क्या कहेगी ? भाई ने भाई को घर से निकाल दिया, तुम्हे भी दुनिया कहेगी कि वह घर से भाग गया।

महावीर मुस्कराए और बोले—'भैया ! दुनिया का काम है कहना, वह कहती रहे। दुनिया को दीख रहा है कि मुझे पारिवारिक असन्तोष नही, राज-महल है, वैभव है, दास-दासिया हैं, सुन्दर पत्नी है। दूसरी ओर आप मुझे रोकना चाहते हैं, मै जाना चाहता हू, क्योकि मै असन्तुष्ट हूँ, अपनी स्थिति से। मैंने धन-वैभव इससे भी अधिक पाया है, अन्य सासारिक पदार्थ भी मुझे अनन्त बार प्राप्त हो चुके हैं, अतः मुझे ये प्रिय नही रहे। फिर मैं महलो मे रहता ही कब हू, मैं इटो और पत्थरो को महल नही मान सकता— ये तो ईंट-पत्थर ही हैं, मुझे रहने के लिये महल ही तो नही मिल रहा, महल की खोज के लिये ही तो मुझे जाना है, आत्म-परितोष की खोज ही तो मुझे पुकार रही है।

वस्तुतः महावीर घर छोडने का आग्रह नही कर रहे थे, न ही वे बाहर जाने के लिये आतुर हो रहे थे। वे तो केवल ममत्व का त्याग करना चाहते थे। घर मे रहने पर घर की ममता उभर सकती है, अत. वे ममता से मुक्त होना चाहते थे।

ममत्व लुटने लगा

महावीर की करुणा ने अब नया रूप धारण किया। वे जनता का भाव से ही नही द्रव्य से भी दारिद्रय दूर करने लगे। जिस धन पर जनता उनका ममत्व मानती थी, वे उसे दोनो हाथो से लुटाने लगे। ठीक ही था यह वितरण, क्योकि—

पानी बाढे नाव मे घर मे बाढे दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यही सुजन को काम ॥

कल्पसूत्रकार ने दान-राशि का हिसाव लगाया है और बताया है कि वे सूर्योदय से एक प्रहर दिन चढने तक एक करोड आठ लाख स्वर्ण-मुद्राए प्रतिदिन बाटा करते थे, इस प्रकार जनता के दारिद्रय-हरण की प्रक्रिया निरन्तर एक वर्ष तक चलती रही और वर्ष भर मे तीन अरब अठासी करोड अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राए राज्य-कोष मे से उन लोगो के पास पहुच गई जिन्हे उनकी आवश्यकता थी। स्वेच्छा से सम्पत्ति का वितरण ही तो समाजवाद है। भगवान महावीर ने समता की दृष्टि के प्रयोगो द्वारा समाजवाद को जो क्रियात्मक रूप दिया वही तो वास्तविक समाजवाद है।

भौतिकता आध्यात्मिकता के चरणों में झुक गई

भाई नन्दीवर्धन ने देखा कि महावीर घर मे रहते हुए भी बाहर ही रहते है, क्योकि उनका घर मे अस्तित्व न होने जैसा होता है। घर के किसी कार्य से कोई वास्ता नही, किसी कार्य मे कोई सलाह ·ही, अत उनकी ममता हार गई, वह महावीर की विरक्ति के चरणो पर झुक गई। भाई ने कहा—'वर्धमान! तुम महान् हो, विराट् हो। विराट् को सकीर्ण-सीमाओ मे बाधना कठिन ही नही असम्भव भी है, तुम्हारी विश्व-मगल की महती भावना को मैं बाधने मे असमर्थ हूं,

तुम आत्मोत्थान और विश्व-मंगल की भावना को साकार करने के लिये स्वतन्त्र हो।

विराट की ओर प्रस्थान

बड़े भाई से महाभिनिष्क्रमण की आज्ञा मिलते ही महावीर प्रस्थान के लिये प्रस्तुत हो गए। न तो छोडने का दुख था, न आज्ञा प्राप्त हो जाने का सुख, उन्होने समभाव से साधु जीवन मे प्रवेश के लिये घर से विदाई ली।

वे किसी गुरु की शरण में नही गए, क्योंकि वे ज्ञान लेना नहीं चाहते थे। वे तो केवल आत्मा मे छिपे अनन्तज्ञान के स्रोत को खोलना चाहते थे। आत्मानन्द अन्तर की वस्तु है, उसके लिये जिस बाह्य प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उस प्रक्रिया को वे पूर्ण करके ही जन्मे थे, गुरु की आवश्यकता बाह्य प्रकियाओं के लिये होती है। सत्य के फूल आत्मा की भूमि पर खिलते हैं, महावीर उन्ही फूलो की खोज के लिये निकले थे, गुरु की खोज के लिये नही। उन्होने समर्पित कर दिया था अपने आपको समष्टि के लिये, अतः किसी और गुरु के चरणो में समपर्ण के लिये उनके पास कुछ बचा ही नही था। वे जानते थे कि मैं जिस विराट् तत्त्व की खोज करने के लिये जा रहा हू, वह मेरे अन्दर ही है बाहर नही, अत. वे चले अन्तर्मुख होकर—उनका विश्वास था—उद्धरेदात्मनात्मान—अपनी आत्मा का आप ही उद्धार करो। वे अपना उद्धार करने के लिये स्वय ही प्रयत्नशील हुए, परन्तु उनका अपनत्व इतना विशाल, इतना महान और इतना असीम था कि उसमे सब समा गए थे, इसी विशाल अपनत्व ने उन्हे 'अहिंसा' का महा तत्त्व प्रदान किया

दुख और हर्ष का मिलन

'मार्गशीर्ष मास था, कृष्ण पक्ष था, जिस दिन वर्धमान महावीर दीक्षा-पथ पर चलने को प्रस्तुत हुए थे। 'मार्गशीर्ष' का अर्थ है—'मार्ग का अन्तिम छोर, यात्रा का अन्तिम पडाव, आखिरी शिखर। महावीर अपने २६ पूर्व-जन्मो के रूप मे विशाल-जीवन यात्रा करते आ रहे थे।

यह जन्म उनकी यात्रा का अन्तिम छोर था, उनकी साधना यात्रा का अन्तिम पड़ाव था, वे अब जीवन के अन्तिम शिखर पर पहुचने की तैयारी करके निकले थे, अत 'मार्ग-शीर्ष मास ही दीक्षा-मास के रूप मे उपयुक्त रहा ।

वे धर्म के दस अगों के समष्टि रूप की उपासना द्वारा जीवन के कृष्ण भाग से शुक्ल भाग की ओर जाने को प्रस्तुत हुए थे, अत· दीक्षा-दिवस के रूप मे उन्होंने कृष्ण पक्ष की दशमी का दिन ही चुना था। फिर दशमी को 'पूर्णा' तिथि कहा जाता है। वे 'पूर्ण-पुरुष' बनने ही तो जा रहे थे। अत: दीक्षा-काल मे 'पूर्णा' तिथि दशमी का होना अनिवार्य था। इस प्रकार मार्ग-शीर्ष कृष्णा दशमी के प्रभात मे ही वर्धमान नवीन आध्यात्मिक जीवन के लिये प्रस्तुत हो गए।

दीक्षा-दिवस (मार्ग-शीर्ष कृष्णा दशमी) को ज्योतिष की भाषा मे 'सुव्रत' कहा जाता है। सुन्दर पांच महाव्रतो के पालन की दीक्षा के लिये सुव्रत दिन का चुनाव जहा मंगलकारी था वहां दीक्षा-समय का 'विजय' नामक मुहूर्त उनकी अवश्यभावी विजय की सूचना दे रहा था।

क्षत्रिय कुण्डपुर में शोभा-यात्रा के मार्ग में स्थान-स्थान पर अनेकविध रंग-विरगे मण्डप वने हुए थे। भगवान महावीर को दीक्षा-स्नान करवाने के लिये स्वर्ण, रजत और रत्न आदि के एक हजार आठ कलश प्रस्तुत थे। इस दीक्षा-महोत्सव मे सम्मिलित होने के लिये सगे-सम्बन्धियो को भी सादर निमन्त्रित किया गया था। राजकुमार वर्धमान दीक्षा अगीकार कर रहे हैं, इस समाचार के सर्वत्र प्रसारित हो जाने के कारण दीक्षा-महोत्सव को देखने के लिये दूर-दूर से जनता भी वहा पहुच गई थी। अनेको राज्यो के राजा महाराजा तथा छोटे-बड़े सरदार भी पर्याप्त सख्या मे दीक्षा-महोत्सव देखने आए थे। दीक्षा-महोत्सव भी साधारण दीक्षा-महोत्सव नही था चौवीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वय दीक्षित हो रहे थे। परिणाम स्वरूप मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के शुभ दिन क्षत्रिय-कुण्डपुर मे चारों ओर से जन-समूह का उमड पडना स्वाभाविक ही था।

श्री आचारांग सूत्र की मान्यता के अनुसार भगवान महावीर के दीक्षा महोत्सव मे भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक इन चारो प्रकार के देवदेवियो के समूह अपने-अपने विमानो मे बैठ कर पूर्ण ऋद्धि-समृद्धि के साथ समुपस्थित हुए। उन्होने श्री वर्धमान के लिये नव्य और भव्य सिंहासन की रचना की। दीक्षा का कार्यक्रम चालू करते हुए उन्होने सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर मुख करके भगवान महावीर को उस सिंहासन पर बैठाया, तदनन्तर शतपाक[1] और सहस्र-पाक तेल से भगवान महावीर का अभ्यगन किया, क्षीर-सागर के स्वच्छ जल से उन्हे स्नान कराया, सुगन्धित वस्त्र से शरीर पोछा, गोशीर्ष-चन्दन का शरीर पर लेप किया, भार मे हलके और बहुमूल्य वस्त्र एव आभूषण पहनाए, जिस समय भगवान को वस्त्रो, आभूषणो मे विभूषित किया गया, उस समय वे कल्पवृक्ष की तरह सुशोभित हो रहे थे। भगवान का रूप-सौन्दर्य इतना अधिक तेजस्वी और निखरा हुआ प्रतीत हो रहा था कि स्वय सौंदर्य भी उनके सौन्दर्य के आगे नत-मस्तक हो गया था। अन्त मे अनुपम छवि के धारक भगवान महावीर को चन्द्रप्रभा नामक उस पालकी मे बिठलाया गया जिस पालकी को मनुष्यो और देवो ने मिल कर उठाया।

वर्धमान जैसे ही चन्द्रप्रभा नामक पालकी मे बैठे, जनता ने जय-जयकार किया, वैशाली का प्रिय राजकुमार विदा हो रहा था, अत. जनता को दुःख होना ही था, परन्तु वैशाली का राजकुमार उस अमर पथ पर जा रहा था, जहा पहुच कर वह अमरता के द्वार सब के लिये खोल देगा, अत. वैशाली के जन-जन का हर्षित होना भी स्वाभाविक था। बटी हुई रस्सियो की तरह जनता के हर्ष और दुख परस्पर मिले हुए थे।

चन्द्रप्रभा पालकी विरक्त महावीर को ईशानकोण की ओर जा रही थी। ईशान-पूर्व और उत्तर का कोण है। पूर्व से ज्ञान का सूर्य निकलना था, विश्व-कल्याण की भावना उत्तरोत्तर विकसित होनी थी, अत पूर्व और उत्तर के कोण मे स्थित ज्ञातखण्ड की ओर पालकी

१ एक सौ औषधिया से बनाया गया एक तरह का उत्तम तेल।

का वढ़ना स्वाभाविक ही था। पालकी दूर निकल चुकी है अब तो केवल वर्धमान की जय हो रही थी तथा हजारो हितचिन्तक व्यक्ति भगवान महावीर को प्रेरणा प्रधान वाते भी कह रहे थे—

वर्धमान ! "यदि आपने स्वर्ण - सिहासन छोडा ही है तो अब ज्ञान दर्शन, चारित्र की विलक्षण आराधना से इन्द्रियो का पूर्णतया दमन करो, राग और द्वेष ये दोनो सवल मल्ल हैं इनको पछाड़ो, कर्मशत्रुओ को नष्ट करके परम साध्य मोक्ष को अधिगत करो, सिह वन कर निकले हो तो अन्तिम क्षण तक सिह ही वन कर रहो और समस्त विघ्न-वाधाओ पर विजय प्राप्त करो। महावीर की जय, वैशाली का तपस्वी अमर है, भद्र महापुरुष की जय, महावीर का, कल्याण हो, महावीर, इन्द्रिय-विजयी हो, श्रमण-धर्म के पालन मे, सफल हो, महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो, महावीर का मार्ग निर्विघ्न हो, जय हो विजय हो की ध्वनिया मेरे कानो मे गूंज रही हैं।



नानाविधरूपचिता विचित्रकूटोच्छ्रितां मणिविभूषाम् ।
चन्द्रप्रभाख्य-शिबिकामारुह्य पुराद्विनिष्क्रान्तः ॥
मार्गशिरकृष्ण-दशमीहस्तोत्तर- मध्याश्रिते सोमे ।
षष्ठेन त्वपराह्णे भक्तेन जिनः प्रवव्राज ॥

मगशिर कृष्णा दशमी के दिन देवो द्वारा निर्मित मणि-विभूषित चन्द्रप्रभा नाम की पालकी पर विराजमान होकर जबकि चन्द्रमा उत्तराहस्त नक्षत्र मे था तब आप नगर से बाहर निकले और षष्ठ भक्त (दो उपवास की प्रतिज्ञा) पूर्वक आपने स्वय जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली।



दीक्षा कल्याणक

श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

दीक्षा-कल्याणक

० ३ ०

हजारो हृदय भगवान महावीर के चरण-सेवक बन कर अपना कल्याण करने की कामना कर रहे थे। हजारो हाथ अपने-अपने इष्ट मित्रो को भगवान का परिचय करवा रहे थे और हजारो मस्तक प्रभु के मंगलमय पावन चरणो मे श्रद्धा-पूर्वक प्रणत हो रहे थे।

इस तरह देव-वन्दनीय भगवान महावीर की शोभा कुछ निराली ही दृष्टिगोचर हो रही थी। तरुण दिवाकर का प्रखर तेज नेत्रो के लिये जैसे असह्य होता है, वैसे ही भगवान महावीर रूप तरुण दिवाकर के सन्मुख आख उठाने का किसी को भी साहस नही होता था। कुण्डपुर के समस्त बाजारो को पार करते हुए भगवान महावीर ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान मे पधार गए। प्रभु पालकी से नीचे उतरे और अशोक वृक्ष के नीचे जाकर उन्होने दीक्षा-पाठ पढने के उद्देश्य से जब अपने वस्त्रो और आभूषणो को उतार दिया, तभी इन्द्र ने उनके कन्धे पर एक वस्त्र रख दिया जो देवदूष्य के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। तदनन्तर भगवान महावीर ने अपने हाथो से पचमुष्टि-लोच किया।

पंचमुष्टि-लोच क्या है ?

कल्पसूत्रीय सुबोधिका टीका के अनुसार पञ्चमुष्टि लोच का अर्थ है एक मुष्टि से दाढी-मूंछ के और चार मुष्टियो से सारे सिर के केशों को उखाड़ कर फेंक देना।[1] इस अर्थ-विचारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थङ्कर भगवान गरदन से ऊपर के भागो में जो केश है उन सब को पांच मुष्टियो मे भर कर उखाड़ दिया करते है।

१ एकया मुष्ट्या कूर्चं चतसृभिस्तु ताभिः शिरोजान्, स्वयमेव पचमौष्टिक लोच करोति।'

परन्तु दाढ़ी मूंछ और सिर के समूचे केश पांच मुष्टियो से कैसे उखाड़े जा सकते हैं? यह विचारणीय है। बुद्धि इसकी व्यावहारिकता पर सन्देह करती है। एक वार लुधियाना में जैन-धर्म-दिवाकर आचार्य-प्रवर पूज्य श्री आत्मा राम जी महाराज ने श्री कल्पसूत्र का अध्ययन कराते हुए पच मुष्टि-केशलोच शब्द का जो अभिप्राय समझाया था मुझे वह तर्क-संगत एवं व्यावहारिक जान पड़ता है। पूज्य गुरुदेव ने कहा था कि जिस व्यक्ति ने केश-लुञ्चन का दृश्य देखा है वह यह अच्छी तरह जानता है कि लोच करनेवाला व्यक्ति अपनी अगुलियो से केशो को उखाड़-उखाड़ कर अपनी मुट्ठी में एकत्रित करता चला जाता है, लुञ्चित केशों से जब मुट्ठी भर जाती है तब वह केशो को छोड़ कर मुट्ठी खाली कर लेता है। मुट्ठी भरने और भर जाने पर उसके रिक्त करने का यह क्रम चलता ही रहता है। इस तरह जिस लोच मे केशो की पांच मुट्ठियां भर ली जाएं अथवा जिस लोच में केश पचमुष्टि-प्रमाणवाले हों उनकी लोच को पच-मुष्टि-केशलोच कहा जाता है। पच-मुष्टि-लोच का यह रूप बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

तदन्तर दीक्षा-ग्रहण करते समय सर्वप्रथम प्रभु ने 'णमो सिद्धाण' कह कर सिद्ध भगवान को वन्दना की। वन्दन करने के पश्चात् देव मनुष्यों के विशाल समुदाय के सामने ही—करेमि सामाइय, सव्व सावज्जं पंचक्खामि",[1] यह दीक्षा-पाठ पढ़ कर उन्होंने सामायिक चारित्र अङ्गीकार किया।

सामायिक ग्रहण करते समय भगवान महावीर ने 'भते!' इस पद का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि सभी तीर्थङ्करों का परम्परागत ऐसा ही आचार होता है। आज तक जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं, वे सभी करेमि सामाइय सव्वं " " इन्ही पदों का उच्चारण करते हैं।

महावीर जिस समय प्रव्रजित जीवन मे प्रवेश के लिये दीक्षा-पाठ पढ रहे थे उस समय देव मनुष्यों का सब कोलाहल शान्त हो गया तथा

---

१ सम्पूर्ण पाप-कर्मों का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूं अर्थात् मन वचन और कर्म मे न स्वय हिंसा करूंगा; न किसी से हिंसा करवाऊंगा और न ही हिंसा करनेवाले का कभी समर्थन ही करूंगा।

महोत्सव के उपलक्ष्य में बजाए जानेवाले विविध बाजों की ध्वनियां भी बन्द[1] कर दी गई ताकि शान्त वातावरण में भगवान् महावीर दीक्षा का पाठ पढ सके और मनुष्य-देवो का समुदाय भी मंगलमय उस दीक्षा-पाठ को ध्यानपूर्वक श्रवण कर सके।

जब कोई महासाधक किसी गुरु की शरण ग्रहण कर दीक्षित होता है तब वह गुरु के लिये सम्मानार्थ 'भन्ते!' शब्द का प्रयोग करता है, परन्तु भगवान महावीर के लिये किसी गुरु की आवश्यकता न थी, क्योंकि गुरुओ द्वारा जो कुछ सीखा जाता है, उसे वे पूर्वजन्मों में सीख चुके थे, उन्हे किसी शास्त्र का श्रवण कर उद्‌बोध प्राप्त नही करना था, उन्होने तो केवल अपने अन्तर में अवस्थित ज्ञान-स्रोत को उद्घाटित करना था। उन्होने उद्धरेदात्मनात्मानम्—अपना उद्धार आप ही करो, की उक्ति के अनुसार अपना उद्धार आप ही करना था, अत वे स्वय ही दीक्षित हुए।

अद्वितीय महावीर

जैन-साहित्य का परिशीलन करने पर पता चलता है कि जब भगवान ऋषभ देव दीक्षित हुए थे तो उस समय उनके साथ चार हजार राजा और भी दीक्षित हुए थे। इसी प्रकार भगवान वासुपूज्य के साथ छः सौ, भगवान मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ के साथ तीन-तीन सौ व्यक्तियो ने दीक्षा अङ्गीकार की थी। इन तीर्थङ्करों के अतिरिक्त अन्य जितने भी तीर्थङ्कर हुए, उनके साथ एक-एक हजार व्यक्ति प्रव्रजित हुए, परन्तु भगवान महावीर ही एक ऐसे तीर्थङ्कर थे, जिनके साथ अन्य किसी व्यक्ति ने प्रव्रज्या ग्रहण नही की। वे अकेले ही साधु बने। इसीलिये कल्पसूत्रकार ने इनके लिये—'एगे अबीए" कहा है जिसका भाव स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं—

एको रागद्वेषसहायविरहात् अद्वितीयः, यथा हि ऋषभश्चतुः

---

१ (क) दिव्वो मणुस्स-घोसो, तुरियणिणाओ य सक्कवयणेणं।
खिप्पामेव णिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्त ॥ १ ॥ —आचा० भा० २
(ख) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग पृ० २६२.

दीक्षामहस्रया राज्ञा, मल्लिपार्श्वौं त्रिभिस्त्रिभिः शतै, वासुपूज्यः षट्शत्या, शेषाश्च सहस्रेण सह प्रव्रजितास्तथा एको भगवान्न केनापि सहेत्यतोऽद्वितीय ।

रागद्वेष की सहायता से रहित होने के कारण कोई अन्य व्यक्ति दीक्षित होने वाला उनके साथ नही था, अतः भगवान महावीर को अद्वितीय कहा गया है।

मन:पर्यवज्ञान की उपलब्धि—

जैन-शास्त्रो की मान्यता के अनुसार ज्ञान पाच प्रकार के होते है— १ मति-ज्ञान, २ श्रुत-ज्ञान, ३ अवधि-ज्ञान, ४ मन.पर्यव-ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। इन्द्रियो और मन की सहायता से पदार्थों को जानने-वाला ज्ञान मतिज्ञान, शास्त्रो के पढने-सुनने से उत्पन्न होनेवाला बोध श्रुतज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता के विना रूपवान् पदार्थों को ग्रहण करनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता के विना समनस्क जीवो के मनोगत भावो को जाननेवाला ज्ञान मन.पर्यव-ज्ञान और त्रैकालिक समस्त पदार्थों को हस्तामलक-वत् एक साथ जानकारी करानेवाला ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है।

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि तीर्थङ्कर भगवान जब गर्भ में अवतरित होते हैं तब वे अवधि-ज्ञान से युक्त होते हैं। अत चरम तीर्थङ्कर भगवान महावीर गर्भस्थ अवस्था मे ही अवधिज्ञान के धारक थे, परिणाम स्वरूप वे इन्द्रियो और मन की सहायता के विना ही मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को जान सकते थे और देख सकते थे। उन्होने गर्भकाल मे माता त्रिशला के विषाद और हर्ष पूर्ण दृश्यो से प्रभावित होकर माता-पिता के जीवित रहने तक दीक्षा ग्रहण न करने की जो प्रतिज्ञा की थी, इसके पीछे भी अवधिज्ञान की शक्ति ही काम कर रही थी।

तीर्थङ्कर भगवान को पूर्व जीवन-कृत अध्यात्म-साधना के प्रभाव से गर्भकाल मे जैसे अवधिज्ञान की उपलब्धि होती है, वैसे ही पूर्वभवीय तप-साधना के बल से दीक्षा ग्रहण के साथ ही उन्हे मन पर्यव-ज्ञान की भी उपलब्धि हो जाती है। इसीलिये ज्ञातृ-कुल-शिरोमणि भगवान

महावीर ने जिस समय दीक्षा ग्रहण की उसी समय उन्हे मनःपर्यव-ज्ञान की उपलब्धि भी हो गई थी। इस ज्ञान के प्रभाव से भगवान साधु बनते ही जीवो के भावो को जानने लगे थे। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'पुण्यशील जीव' का अपना कुछ निराला ही प्रभाव होता है, उसके पास समस्त ऋद्धि-सिद्धियां अपने आप ही भागी चली आती हैं।

राजकुमार से भिक्षु

भगवान महावीर जिस समय दीक्षा-पाठ पढ़ रहे थे उस समय का दृश्य वडा ही रोमाञ्चकारी था। सव अनुभव कर रहे थे कि कुछ क्षण पहले जो राजकुमार थे वे अव भिक्षु वन गये हैं। जिस शरीर पर राजसी वस्त्र और आभूषण शोभा पा रहे थे और जो शरीर चकाचौंध कर देनेवाली हीरे-जवाहरात की दिव्य-प्रभा से स्वर्गपुरी के देवशरीरो को भी निस्तेज वना रहा था, उस शरीर पर अव आभूषण नाम की कोई वस्तु नही रही है, केवल इन्द्रप्रदत्त देवदूष्य वस्त्र कन्धे पर डाला हुआ दिखाई दे रहा है। भले ही प्रभु का मुखमण्डल त्याग एव वैराग्य की कुछ निराली ही छटा दिखला रहा था, परन्तु भगवान महावीर को शिरो-मुण्डित वेष मे देखकर इनके वडे भाई नरेश नन्दीवर्धन तथा अन्य पारिवारिक लोग विह्वल से हो उठे, सव का दिल भर आया, आंखे सजल हो गई, सवके सव भावी विरह-जन्य पीडा से परिपीडित हो गए, सवके कण्ठ गद्‌गद् हो गए, सव मन ही मन प्रभु के साधु-पथ की सफलता के लिये मगल कामनाए करने लगे।

भीष्म-प्रतिज्ञा

अव महामहिम भगवान महावीर ने एक भीष्म प्रतिज्ञा की—"आज से वारह वर्ष तक जव तक केवल-ज्ञान का महाप्रकाश प्राप्त न होगा तव तक मै जन-सम्पर्क से सर्वथा अलग रहकर आत्म-साधना करूंगा। सभी प्रकार के कष्टो को समता से सहन करूंगा।"[1]

१ वारस वासाइ वोसट्ठकाए, चियत्तदेहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जति त जहा—दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्म सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि।

आचा०, श्रु० २, अ० ११ पत्र ३९१

प्रश्न हो सकता है कि भगवान महावीर मति, श्रुति, अवधि और मन पर्यवज्ञान इन चारो ज्ञानो के धारक थे, इन के लिये धर्म का कोई रहस्य अनजाना नही था, ऐसी दशा मे उन्होंने जन-सम्पर्क से निवृत्ति क्यो की ? सयम-क्षेत्र मे पदार्पण करते ही धर्म-देशना की पावन गंगा प्रवाहित न करके बारह वर्ष के लम्बे काल के लिये वे मौन साधना के क्षेत्र मे क्यो उतरे ?

परन्तु भगवान महावीर के जीवन-शास्त्र का जब हम गम्भीरता से अध्ययन करते है तो बिना किसी झिझक के कहा जा सकता है कि भगवान महावीर अपने जीवन को ही एक प्रयोगशाला बना कर जीवन-निर्माण के सभी सिद्धान्तो को उसमें परखना चाहते थे, क्योंकि जब तक किसी बात को पहले अपने जीवन की प्रयोगशाला मे न परखा जाए तब तक उसका अन्यत्र सफल होना अनिश्चित होता है।

दूसरी बात कथनी और करनी की विषमता को भगवान महावीर अपने निकट नही आने देना चाहते थे। कहने से पहले कथनीय तत्त्व को जीवन में लाकर परखने की उनकी सुदृढ आस्था थी। इसीलिये दीर्घदर्शी भगवान महावीर ने सबसे पहले आत्म-सुधार का, केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने विकारो को नष्ट करने का महाव्रत अङ्गीकार किया, जोकि उनके मगलमय व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप ही था। यदि आज के समाज-सुधारक भगवान महावीर के इस अनूठे आदर्श को अपनाले, दूसरो को समझाने से पहले अपने आपको समझाने की कोशिश करे तथा कथनी और करनी मे विषमता न रहने दें तो बहुत शीघ्र ही भारतीय जनता का मङ्गल हो सकता है।

जन्मभूमि से प्रस्थान—

अब भगवान महावीर ने ज्ञातखण्ड नामक उद्यान से प्रस्थान कर दिया। यह विहार का दृश्य भी कुछ निराला ही था। उस समय सबके नेत्र प्रेमाश्रुओ से भीग गए थे। जाते हुए भगवान को वे सब तब तक देखते रहे जब तक कि भगवान महावीर उनकी आखो से ओझल न हो गए। वापिस जाते हुए सभी दर्शको को यही अनुभव हो रहा था कि मानो आज हमारा सर्वस्व किसी ने छीन लिया हो।

सहृदयता के अमर प्रतिनिधि

भगवान महावीर कहीं पर ध्यानस्थ खड़े थे, वहां पर एक वृद्ध ब्राह्मण आया, यह विपत्ति का मारा हुआ, गरीबी का सताया हुआ और दरिद्रता से बुरी तरह से पिसा हुआ था। वह भगवान महावीर का साक्षात्कार करते ही आनन्द-विभोर हो उठा और उनके चरणों का स्पर्श करके कहने लगा—"भगवन्! मैं बहुत दिनो से आपको ढूढ रहा था, आस-पास के गावों और जंगलो को छान मारा, आज दर्शन पाकर कृत-कृत्य हो गया हूं। मुझे पता चला है कि आपने साधु बनने से पूर्व सावन की झड़ी की तरह स्वर्ण-मुद्राए बरसाई, किन्तु मैं भाग्यहीन खाली ही रहा। आप तो ब्रह्मज्ञानी महापुरुष हैं, मेरी निर्धनता गरीबी और दयनीय दशा मे आप अपरिचित नही हैं। मेरेलिये तो आप कल्पवृक्ष है, आपका शरणागत हू प्रभो! इस दीन ब्राह्मण पर भी कुछ कृपा कीजिए।

अनेकों बार गिड़गिड़ाने पर भी जब भगवान मौन रहे, उन्होने कोई उत्तर नही दिया तो उस ब्राह्मण की आशाओ के सब दीप बुझ गए। अन्त मे वह सिसकियां भरता हुआ रोने लगा और भगवान के चरणो से लिपट गया। ब्राह्मण की दयनीय स्थिति देख कर करुणा-सागर भगवान महावीर ध्यान खोलकर बोले—

"देवानुप्रिय! तुम्हारी दयनीय दशा तो मैं स्वय देख रहा हूं, परन्तु अब तो मैं एक अकिंचन भिक्षु हूं, अर्थ-सम्पदा की तेरी कामना इस समय कैसे पूर्ण कर सकता हू ?"

यह सुनकर ब्राह्मण ने दीनतापूर्ण शब्दो मे पुनः कहा—"भगवन्! आप तो अनन्त बली है, जो चाहे कर सकते है। चाहे तो एक क्षण में रत्नों की वर्षा करदे और मिट्टी को स्वर्ण बना डालें।

ब्राह्मण की चापलूसी का निराकरण करते हुए भगवान बोले "भद्र! मैं जादूगर नही हू, आत्म-साधना का विशुद्ध साधक हूं, सोने-चादी के टुकड़ो को लिये नीलाम की जानेवाली मेरी साधना नही है।

यह सुनते ही ब्राह्मण की आखो के आगे अन्धेरा सा छा गया। भगवान के घर जाकर भी अपने को खाली रहता देखकर वह पुन

फूट-फूट कर रोने लगा। करुणामूर्ति भगवान महावीर ज्यों-ज्यों उसे सान्त्वना देते त्यों-त्यों उसका दिल और अधिक चीत्कार कर उठता। सहृदयता और संवेदना के अमर प्रतिनिधि भगवान महावीर से यह दृश्य देखा नहीं गया। उन्होंने अपना देवदूष्य फाड़ा और उसका आधा भाग ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मण लोभी था, वह सारा देवदूष्य लेना चाहता था, लज्जा के मारे वह माग तो नहीं सका, परन्तु उसे प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। भगवान के विहार करने पर कुछ ही दूरी पर वह भगवान के पीछे-पीछे रहता था, समय की बात समझिए कि तेरह मास के बाद एक दिन वह आधा देवदूष्य कांटों में उलझ कर कहीं गिर पड़ा। अपनी मनोरथपूर्ति देखकर ब्राह्मण हर्ष के मारे फूला नहीं समाया।[1]

यह भी कहा जा सकता है कि महावीर इतने आत्म-अवस्थित हो गए थे कि उन्हें देह का भान ही न रह गया था, अतः देह से देवदूष्य गिर गया इसकी उन्हें प्रतीति भी न हुई होगी, क्योंकि देवदूष्य का सम्बन्ध शरीर से था और महावीर उस शरीर से अलग रह कर साधना के अभ्यासी हो गए थे।

उपसर्गों की छाया तले

विहार करते हुए भगवान महावीर सन्ध्या समय एक मुहूर्त दिन शेष रहते कूर्मारग्राम में पहुंचे। योग्य स्थान देख कर प्रभु ध्यान में अवस्थित हो गए। दीक्षा के समय गोशीर्षचन्दन का शरीर पर जो लेप किया गया था, उसकी सुगन्धि का प्रभाव चार महीने से भी अधिक रहा था। यही कारण था कि भ्रमर आदि सुगन्धि-प्रिय कीट इनके शरीर पर तीक्ष्ण डंक मारते थे, मांस नोचते थे, रक्त चूसते थे, परन्तु महावीर ने कभी उन्हें हटाया नहीं, न ही वे कभी व्यथित हुए। मेरु की

---

१ कल्पसूत्र के मूल में या किसी अन्य शास्त्र में इस कथानक का कोई उल्लेख नहीं है। आचारांगसूत्र तथा कल्पसूत्र में १३ मास के बाद देवदूष्य के गिर जाने का उल्लेख मिलता है। तथापि आधा वस्त्र ब्राह्मण को देने का वहां पर कोई वर्णन नहीं है, परन्तु चूर्णि टीका आदि में भगवान द्वारा आधा वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य देखने में आता है।

भांति निश्चल होकर, वे दंश-परीषह-जन्य भयंकर वेदनाओं को समता के साथ सहन करते रहे।

इन्द्र की अभ्यर्थना

भगवान महावीर कूर्मारग्राम के बाहिर ध्यान मे खडे थे कि अचानक एक ग्वाला वहा आया और प्रभु के पास अपने पशुओ को चरने के लिये छोड कर स्वय अपने घर चला गया। अपने स्वभाव के कारण पशु चरते-चरते वहा से दूर चले गए। गृह-कार्यो से निवृत्त होकर ग्वाला जब वापिस आया तो पशुओं को न देख कर उसने भगवान से पूछा। भगवान तो ध्यानावस्थित थे, अत वे मौन ही रहे। ग्वाला पशुओ को ढूढने चला गया। समय की बात समझिए कि जिस दिशा मे पशु गए थे वह उस दिशा मे न जाकर किसी दूसरी दिशा मे जा पहुचा, फलतः सारी रात पाव घिसाने पर भी उसे पशु नही मिले। इधर पशु चरते-चरते पुन भगवान के पास आ गए और वही बैठ गए। ग्वाले ने आकर जब वहां बैठे पशु देखे तो वह आग बबूला हो गया, क्रोध मे तमतमाने लगा और आवेश मे भर कर बोला—"रात भर पशुओ को छिपाए रक्खा। अब इन को ले जाना चाहता है ? तेरी इस धूर्त्तता का अभी तुझे मजा चखाता हूँ।" यह कहकर वह हाथ मे पकडी रस्सी से ही प्रभु पर प्रहार करने लगा। इधर देवराज शक्रेन्द्र महाराज ने अवधिज्ञान से भगवान पर प्रहार कर रहे ग्वाले को देखा तो वे निमेषार्द्ध में ही वहा पहुच गए और दैवी प्रभाव से ग्वाले के हाथ वही उठे रह गये। उस ग्वाले को इन्द्र महाराज ने भगवान महावीर के विलक्षण त्यागी जीवन का जब परिचय दिया तब वह बहुत लज्जित हुआ। उसने अपने अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना की।

ग्वाले द्वारा किए जा रहे दुर्व्यवहार से शक्रेन्द्र महाराज का मन बडा खेदखिन्न हो रहा था, इसीलिये उन्होने महामना भगवान महावीर से विनीत प्रार्थना करते हुए कहा—"भगवन् ! आपका साधना-काल मुझे तूफानी सकटो से घिरा हुआ दिखाई दे रहा है। अज्ञानी जीव आपको यातनाएं पहुचाएगे। मेरे आराध्य देव पामर जीवो से अपमानित हो यह मेरे लिये असह्य है, अत. आप आज्ञा दे कि यह चरण-

सेवक आप की सेवा में रहे और आपको मानवी, दैवी या पाशविक कोई भी कष्ट न होने दे।

इन्द्र की यह प्रार्थना सुनकर प्रभु महावीर ने सहज भाव से कहा—"इन्द्र कर्मों का भोग चक्रवर्ती एव वासुदेव सब को भोगना पडता है। जिन्हे आप उपसर्ग कष्ट या वेदना कहते है, मै उन्हे पूर्वसचित कर्मों के परिमार्जक मानता हू। अत यहा खिन्नता का क्या मतलब ? इन स्थितियो मे भी मेरे मन सन्तोष में किञ्चित् भी अन्तर नही आ सकता। रही तुम्हारी मेरे पास रहने की बात, यह तुम्हारी भक्ति है, परन्तु देवेन्द्र ! साधना के कदम किसी अन्य के पावो मे नही नापे जाया करते, वे तो अपने ही पांवो से नापे जाते हैं। सच्ची साधना को किसी के साहाय्य की अपेक्षा नही होती। सहायता और साधना का ३६ के अक जैसा विरोध है। वह साधना ही क्या है जो अपनी रक्षा स्वय न कर सके, अत मुझे तुम्हारी किसी सहायता की आवश्यकता नही है।"[1]

पांच दिव्यो की वर्षा :

कूर्मारग्राम मे रात्रि व्यतीत करने के अनन्तर भगवान महावीर ने वहा से विहार कर दिया और वे कोल्लाग नामक नगर मे पहुचे। वहा पर भगवान ने एक ब्राह्मण के घर खीर से षष्ठ भक्ततप (वेले) का पारणा किया। खीर-दान के अवसर पर "अहोदानमहोदानम् (आश्चर्य-कारक दान") के दिव्यघोप के साथ देवताओ ने आकाश से पांच दिव्यो की वर्षा करके दान की महिमा के गीत गाए। वे पाच दिव्य हैं- वस्त्रो की वर्षा की, सुगन्धित जल से पृथ्वी का सिंचन किया, पुष्पो की वृष्टि की, देवदुन्दुभि वजाई और साढे वारह करोड स्वर्ण मुद्राओ की वर्षा करके भूमि को स्वर्णिम वना दिया।

पांच प्रतिज्ञाओं की आराधना :

कोल्लाग-सन्निवेश से विहार करके भगवान महावीर मोराक

---

१ "नापेक्षा चक्रिरेऽर्हन्त परसाहायिक क्वचित्,
केवल केवलज्ञान प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यत।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्रा परमं पदम्।"
—त्रिषष्टिशलाका पुरुष

सन्निवेश (नगर) मे पधारे।--वहां पर सन्यासियो का एक आश्रम था। आश्रम के कुलपति भगवान के पिता महाराजा सिद्धार्थ के मित्र थे, अत: उन्होने भगवान महावीर को देखते ही पहचान लिया, लेने के लिए आगे आए, स्वागत किया, कुलपति की प्रार्थना पर भगवान एक रात्रि के लिए वहा पर ठहर गए।

दूसरे दिन जब वहा से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने अपने आश्रम मे ही वर्षावास (चातुर्मास) व्यतीत करने की विनति की। इस विनति को स्वीकार करते हुए भगवान कुछ समय के लिये आस-पास के गावो मे भ्रमण करके, पुन. उसी आश्रम मे पधार गए और एक पर्णकुटीर (घास की कुटिया) मे रहने लगे। इस बार वर्षावास मे वर्षा इतनी अधिक हुई कि पशुओ को घास मिलनी भी कठिन हो गई। परिणाम-स्वरूप भूखे पशु सन्यासियो के पर्णकुटीरो की घास खाने लगे। अन्य सभी सन्यासियो ने तो अपनी-अपनी कुटिया के सरक्षणार्थ घास खाने से पशुओ को हटा दिया, परन्तु भगवान महावीर सहजभाव से अपने आत्मध्यान मे ही लगे रहे। उन्होने किसी पशु को वहा से नही हटाया। पशुओ द्वारा पर्णकुटीर का नुकसान होता देखकर आश्रम के कुलपति ने भगवान से कहा—"क्षत्रिय होकर भी एक कुटिया की रक्षा नही कर पा रहे"?

कुलपति का यह खेदपूर्ण उपालभ सुनकर भगवान महावीर मन ही मन विचार करने लगे—"जब महलो की ममता नही रक्खी तब इस पर्णकुटीर पर ममता रखने का क्या मतलब ?" यदि ममता के पथ पर ही चलना होता तो घर-बार छोड़ने की क्या आवश्यकता थी ? यह ममता तो आत्मचिन्तन मे बाधक है, विष और अमृत तथा अन्धकार और प्रकाश का मेल कैसा ? दूसरी बात, पशु भूखे हैं अपने स्वार्थ के लिये मैं इन के भोजन मे बाधक बनू, यह मेरे लिए असह्य है। इसलिये भगवान ने कुलपति की बात पर ध्यान नही दिया। तथापि भगवान कुलपति के मानस को भी व्यथित नही करना चाहते थे, इसलिये उन्होने वहा पर रहना ही उचित नही समझा और उन्होने चातुर्मास मे ही विहार कर दिया। ऐसी स्थिति मे विहार का होना स्वाभाविक था, क्योकि ममता की बेड़ियो को तोडकर "वसुधैव'

कुटुम्बकम्" के मङ्गलमय महामन्त्र का पाठ करनेवाला एक अहिंसा-व्रतधारी अपने कारण किसी को परिपीडित या परिव्यथित नही कर सकता। अब उन्होने पाच प्रतिज्ञाए धारण करली—१. जिस स्थान पर रहने मे अप्रीति पैदा हो वहा पर नही रहूंगा। २ यथाशक्य अधिक समय प्रतिमा-ध्यान मे ही व्यतीत करू गा। ३ मौन रखू गा, अर्थात् जहा बोलना आवश्यक न हो वहा किसी से बोलू गा नही। ४. किसी अन्य पात्र का प्रयोग न करके अपने हाथो मे ही भोजन करू गा। ५ गृहस्थो की कभी खुशामद नही करू गा।[1]

पांवो मे चक्रवर्ती के चिन्ह

पुष्य नाम के एक सामुद्रिक शास्त्री थे जो सामुद्रिक शास्त्र के बडे अच्छे ज्ञाता थे। वे एक वार गङ्गा नदी के किनारे-किनारे जा रहे थे। वहा से अभी-अभी भगवान महावीर गए थे, अत रेत मे प्रभु की पाद-पक्तियो द्वारा चक्र, ध्वज और अकुश आदि के चिन्ह पड गए थे। इन पद-चिन्हों को देखते ही सामुद्रिक शास्त्री वडे विस्मित हुए और विचार करने लगे कि यहा से अवश्य ही अभी कोई चक्रवर्ती नगे पाव गुजरा है। अपनी आर्थिक स्थिति को ऊंचा उठाने की दृष्टि से उन्होने सोचा कि 'चक्रवर्ती के दर्शन करने चाहिए। उनकी सेवा करके अपने सोए भाग्य को जगाना चाहिए।" यह सोच कर वे शीघ्र ही चले और पदचिन्हो का अनुगमन करते हुए भगवान महावीर के पास जा पहुचे। महावीर ध्यानावस्थित थे, पद-चिन्ह वाले व्यक्ति को शिरोमुण्डित एक सन्त के रूप मे देख कर वे आश्चर्य-चकित रह गए।

सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार ये पद-चिन्ह चक्रवर्ती के होने चाहिए, परन्तु यह तो एक भिक्षाजीवी साधु है। जो स्वय भिक्षा माग कर जीवन का निर्वाह करता है, वह मुझे क्या दे सकता है ? क्या सामुद्रिक शास्त्र झूठा ही है? मैं आज तक इस शास्त्र को व्यर्थ ही सत्य मानता रहा, यह तो विल्कुल असत्य है। ऐसे झूठे शास्त्र को तो नदी मे ही प्रवाहित

---

१. (क) इमेण तेण पच अभिग्गहा गहिया... . .. —आव० मलय०

(ख) नाप्रीतिमद्गृहे वास., स्थेय प्रतिमया सदा।
न गेहिविनय कार्यो, मौन पाणौ च भोजनम्॥

—कल्पसूत्र-सुबोधिकाटीका

कर देना ठीक है।' यह सोचकर वे सामुद्रिक शास्त्र को नदी में प्रवाहित करने ही वाले थे कि इतने में भगवान महावीर की चरण-वन्दना करने आ रहे देवराज शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से यह सारी स्थिति समझ ली और उन्होने उसे शास्त्र को फेंकने मे रोकते हुए कहा—

"भद्र! सामुद्रिक शास्त्र सर्वथा सत्य है, इस मे चक्रवर्ती होने के जो चिन्ह लिखे हैं वे भी ठीक है परन्तु आपने गम्भीरता से इनका अभिप्राय नही समझा जिस व्यक्ति के चरणो मे सामुद्रिक-शास्त्र-वर्णित ये चिन्ह उपलब्ध हो,यदि वह गृहस्थ-जीवन मे रहता है तो वह छ.खण्डो का नाथ चक्रवर्ती होता है,परन्तु यदि वह गृहस्थाश्रम को छोड़कर सयम-साधना के क्षेत्र मे आ जाता है तो वह तीन जगत् का पूज्य, वन्दनीय, सुरासुरों का सेव्य और चतुर्विध सघ का सस्थापक तीर्थङ्कर होता है। तीर्थङ्कर भगवान के शरीर का पसीना दुर्गन्व-रहित, श्वासोच्छ्वास सुगन्धित और रुधिर गाय के दूध के समान सफेद और मधुर होता है। ये सामान्य सन्त नही है। ये परम त्यागी, वैरागी शान्ति के अमर सन्देश-वाहक, तथा देव-मनुष्यो के आराध्य, पूज्य तीर्थङ्कर भगवान महावीर हैं। आजकल इनका साधनाकाल चल रहा है, इसीलिये इनका वास्तविक तेजस्वी और वर्चस्वी स्वरूप तुम्हारे चर्म चक्षुओ से ओझल हो रहा है।

इतना कह कर शक्रेन्द्र महाराज ने सामुद्रिक शास्त्री के मनोरथ की पूर्ति करते हुए उन्हे सुवर्णादि देकर सन्तुष्ट किया और सामुद्रिक शास्त्री तथा शक्रेन्द्र दोनो ही भगवान महावीर के पावन चरणो मे वन्दना, नमस्कार करके अपने-अपने स्थानो को चले गए।

शूलपाणि यक्ष का उद्धार और दश स्वप्न

अब भगवान महावीर अस्थिकग्राम मे पधारे। सन्ध्याकाल हो गया था। गाव के बाहर शूलपाणि नामक यक्ष का मन्दिर था। भगवान उसी मे विराजमान हो गए। गाव वालो ने प्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो! मन्दिर का यक्ष वडा क्रूर है, वह रात्रि मे यहा पर किसी को ठहरने नही देता, अत आप किसी दूसरे स्थान पर ठहर जाएं।" सायकाल होने पर मन्दिर का पुजारी आया तो उसने भी प्रभु से मन्दिर को छोड देने का आग्रह किया, परन्तु भगवान महावीर को अपने आत्मवल पर

जो विश्वास था-उसे आज वे परखना चाहते थे, तथा यक्ष के सुधार की भी उनकी प्रबल भावना थी, अत' वे सब के कहने पर भी किसी अन्य स्थान पर नही गए, प्रत्युत वही पर एक कोने मे ध्यान लगा कर खड़े हो गए।

रात्रि होने पर शूलपाणि यक्ष ने भगवान महावीर को ध्यानावस्थित देख कर सोचा—"यहा रात्रि को रहना निषिद्ध है यह समझा देने पर भी यह साधु यहा से गया नही और ध्यान लगा कर खडा हो गया है, मालूम होता है इसे अपनी शक्ति का अभिमान हो गया है। सबसे पहले मैं इसके अभिमान का नशा उतारता हू। उसने कहकर इतना भयकर अट्टहास किया जिससे कि आस-पास का सारा प्रदेश काप उठा, परन्तु भगवान महावीर पर इस अट्टहास का कोई प्रभाव नही पडा। वे पहले की भाति ध्यानस्थ ही खडे रहे।

अब उस यक्ष ने हाथी का रूप धारण करके तीक्ष्ण दातों से भगवान महावीर पर अनेको प्रहार किए, उन्हे पावो मे रौंदा, पिशाच बनकर भयकर नखो से भगवान के शरीर को नोचा, सर्प बन कर जहरीले डक मारे, तथापि भगवान अपने ध्यान से विचलित नही हुए। यक्ष को जब अपनी पराजय होती दिखाई देने लगी तो उसने अपने अन्तिम हथियार का प्रयोग किया और भगवान के आख, कान, नाक, सिर, दांत, नख और पीठ इन सात स्थानो पर ऐसी भयकरतम वेदना उत्पन्न कर दी कि यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो वह तत्क्षण वही पर ढेर हो जाता, परन्तु महावीर तो सच्चे महावीर थे, सात स्थानो को छोडकर यदि शरीर के सभी अगो मे इस से भी उग्र वेदना पैंदा कर दी जाती तब भी वे डावाडोल होनेवाले नही थे, सकटो की इस लोम-हर्षक आधी मे भी प्रभु महावीर मेरु पर्वत की भाति अडिग रहे।

शूलपाणि यक्ष अपना पूरा जोर लगा कर अब थक चुका था, परिणाम स्वरूप महावीर के धैर्य और शौर्य के आगे वह लज्जित तथा नतमस्तक हो गया, अन्त मे प्रभु के चरणो मे प्रणत होकर क्षमायाचना करने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा नही था। इसलिये प्रभु के चरणो मे गिरकर उसने क्षमायाचना करते हुए विनम्र प्रार्थना की—

"भगवन ! मैं आप को एक साधारण, दुर्बल सन्यासी ही समझता था, परन्तु आप तो एक असाधारण सन्त हैं, सन्त ही नही, सन्तशिरोमणि हैं. आपका धैर्य और शौर्य्य बडा ही विलक्षण है, आप इतने महान् सहिष्णु और दृढव्रती हैं, इसकी मुझे स्वप्न मे भी कल्पना नही थी। क्षमासागर प्रभो, मेरे अपराधो के लिये मुझे क्षमा करे। मैंने आज की रात्रि मे आप को जो दु ख दिये है, इसका मुझे हार्दिक खेद है, पश्चात्ताप है, ग्लानि है। आपकी अहिंसा-साधना ने मेरा हृदय बिल्कुल परिवर्तित कर दिया है। अत. आज मैं आपके श्री चरणो मे सच्चे हृदय से प्रतिज्ञा करता हू कि आज से मैं किसी जीव की हिंसा नही करू गा और अहिंसा भगवती की आराधना करता हुआ अपने पापो का प्रायश्चित्त करूंगा।" इतना कहकर शूलपाणि यक्ष सजल नयनो के साथ भगवान के चरणो मे अपना मस्तक रख कर क्षमा मांगता हुआ वहां से चला गया।[1]

उस समय मुहूर्त्त भर रात्रि अवशिष्ट थी, तत्पश्चात् भगवान् महावीर को अचानक निद्रा आ गई।[2] निद्रित अवस्था मे ही भगवान ने दश स्वप्न देखे—

१ एक तालपिशाच को अपने हाथो से पछाडते देखा।
२ एक श्वेत पक्षी को अपनी सेवा मे उपस्थित देखा।
३ विचित्र वर्णवाला पु स्कोकिल सामने देखा।
४ देदीप्यमान दो रत्नमालाए देखी।

1. श्री कल्पसूत्रीय टीका के अनुसार शक्रेन्द्र महाराज द्वारा नियुक्त किए हुए सिद्धार्थ देव ने जब शूलपाणि यक्ष का यह उपद्रव देखा, तब वहां आकर उसने उसे बहुत डाटा और कहा, "ये भगवान महावीर हैं, देवेश शक्रेन्द्र के आराध्य हैं, यदि तेरी इस काली करतूत का उन्हे पता चल गया तो वे तेरा नामोनिशान मिटा देंगे। सिद्धार्थ देव की इस धमकी से शूलपाणि यक्ष भयभीत हो गया और उसी समय उसने भगवान से क्षमा-याचना की तथा भविष्य मे ऐसी भूल न करने का प्रण किया।

२. तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परितावितो।
पभायकाले मुहुत्तमेत्त निद्दापपाय गतो॥ —आ॰व॰ म॰ पृ॰२७०

५. एक श्वेत गो-वर्ग सम्मुख खडा देखा।

६ विकसित पद्मसरोवर देखा।

७ अपनी भुजाओ से महासमुद्र को तैरते हुए देखा।

८ विश्व को प्रकाशित करते हुए सूर्य को देखा।

९ वैडूर्य वर्ण सी अपनी आतो से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा।

१० अपने आपको मेरु पर्वत पर चढते देखा।

इन स्वप्नो के अनन्तर उनकी निद्रा भग हो गई और वे पुन· अपने आत्म-चिन्तन मे तल्लीन हो गए।

अस्थिक ग्राम मे उत्पल नाम के एक निमित्तज्ञ (ज्योतिषी) रहते थे। वे कभी भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के सन्त थे, किन्तु दुर्वलता वश साधु-वृत्ति छोड कर गृहस्थ वन गए थे। जव इन्हे पता चला कि महावीर शूलपाणि यक्ष के मन्दिर मे ठहरे हैं तो अनिष्ट की सभावना मे उसका कलेजा कांप उठा। प्रात.काल होते ही वह यक्ष के मन्दिर मे पहुचा तो वहा भगवान को सकुशल देखा तथा "भगवान महावीर की दयादृष्टि से शूलपाणि यक्ष का उपद्रव सदा के लिए शान्त हो गया है।" इस हर्ष समाचार से प्रसन्न हुए अस्थिक ग्राम निवासियो को भगवान की महिमा का गान करते देखा तो उनको परम हार्दिक सन्तोष हुआ।

उत्पल अपने दैविक इष्ट के वल से मन की बात भी जान लेते थे, इसीलिये जव उन्हे भगवान के देखे दश स्वप्नो का ज्ञान हुआ तव उन्होने स्वप्नो का फलादेश वतलाते हुए भगवान से प्रार्थना की—'प्रभो! आज रात्रि को आपने जो दश स्वप्न देखे हैं वे वडे महत्त्वपूर्ण, उत्तम और शुभ फलदायक हैं। इन स्वप्नो का फलादेश देख कर ऐसा लगता है कि एक दिन आप विश्व के जाने-माने महाप्रतापी महापुरुष होगे, ससार की समूची शक्तिया आपकी चरणदासी होगी। आप तो सव कुछ जानते ही हैं, परन्तु मैं अपने अनुभव के आधार पर स्वप्नो का जो फलादेश जान सका हूं, वह आप श्री के पवित्र चरणो मे निवेदन करता हू :—

१ तालपिशाच दीर्घकाय राक्षस का नाम है। इसको मारने का अर्थ है कि आप श्री मोह-रूप कर्म-पिशाच का अन्त करेगे।

२ पुंस्कोकिल नर कोयल को कहते हैं, इसका स्वप्न-दर्शन—"आप को शुक्ल ध्यान प्राप्त होगा" इस अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है। ध्यान के अनेक प्रकारो मे से शुक्ल-ध्यान सब से उत्तम एव प्रशस्त ध्यान माना गया है। इसकी आपको अवश्य ही प्राप्ति होगी।

३. विचित्र वर्णवाले (रग-बिरगे) पक्षी के दर्शन का अर्थ है—आप विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना देगे, द्वादशाङ्गी वाणी का प्रकाश करेंगे।

४ श्वेत गोवर्ग (गो-समुदाय) को देखने से आप साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध सघ को स्थापित करेंगे।

५ विकसित पद्मसरोवर देखने से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार प्रकार के देव आप की सेवा करेंगे।

७ समुद्र को तैर कर पार करने से आप एक दिन ससार-सागर को पार करेंगे।

७. विश्व को आलोकित करते हुए उदीयमान सूर्य को देखने से आप केवल-ज्ञान अधिगत करेंगे।

८ आतो से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करने से आप की कीर्ति सारे मनुष्यलोक मे प्रसारित होगी।

९. मेरु पर्वत पर चढने से आप धर्म-सिहासन पर बैठ कर देवो और मनुष्यो को धर्मोपदेश देगे।

१० आपने देदीप्यमान जो दो रत्न मालाए देखी हैं, इस स्वप्न का अभिप्राय मैं तो नही समझ सका।"

निमित्तज्ञ की यह बात सुन कर भगवान ने तत्काल उत्तर दिया[1] कि इस स्वप्न को देखने का अर्थ है कि "मैं साधु-धर्म और श्रावक-धर्म का कथन करूगा।"

१ भगवान महावीर ने जो मौन रहने की प्रतिज्ञा की थी उसका अभिप्राय यही था कि, जहा बोलना अत्यधिक आवश्यक होगा, वहीं बोलूगा, अन्यथा मौन ही रहूगा। अत एक अत्यधिक आवश्यक प्रश्न का उत्तर देने के लिये भगवान का बोलना उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध नही कहा जा सकता।

भगवान महावीर के पावन मुखारविन्द से यह फलादेश सुनकर निमित्तज्ञ आनन्दविभोर हो उठा। शूलपाणि-यक्ष का उपद्रव शान्त हो जाने से अस्थिग्राम के घर-घर मे हर्ष छा गया। भगवान महावीर ने यही पर प्रथम चातुर्मास किया और इस चातुर्मास मे भगवान ने पन्द्रह-पन्द्रह दिनो के आठ बार उपवास किए।

अच्छन्दक पर उपकार :

अस्थिकग्राम का चातुर्मास समाप्त करके भगवान ने मार्गशीर्ष प्रतिपदा को वहा से विहार कर दिया और वे मोराक सन्निवेश मे पहुच कर वहा के एक उद्यान मे विराजमान हो गए। यहा अच्छन्दक नाम का एक ज्योतिषी रहता था। लोगो मे इसका बडा अच्छा प्रभाव था, इसी प्रभाव से इसकी और इसके परिवार की आजीविका चलती थी, परन्तु जब लोगो ने श्रमण भगवान महावीर का विलक्षण त्याग-वैराग्य देखा तो सब ने प्रभु-चरणो की शरण ग्रहण की। अधिक से अधिक जनता प्रभु के चरणो मे उपस्थित होने लगी।

प्रभु की सेवा मे रहनेवाला सिद्धार्थ नामक देव सब आगन्तुक व्यक्तियो की मनोकामनाए पूर्ण कर देता था। फलत प्रभु का प्रभाव व्यापक होता गया और अच्छन्दक ज्योतिषी का प्रभाव घटता चला गया। अपने गिरते हुए प्रभाव को देख कर अच्छन्दक बडा दु खी हुआ और कोई उपाय न देख कर अन्त मे वह सीधा भगवान के चरणो मे आया, दीन स्वर मे अभ्यर्थना करते हुए कहने लगा—

"प्रभो! आप तो तेजस्वी महापुरुष हैं और मैं ठहरा एक पामर अन्नकीट। भगवन्! आज एक अन्तर्वेदना लेकर आपकी शरण मे आया हू। कहते हुए लज्जा भी आती है, परन्तु कहे बिना गुजारा भी नही है। आप के इधर आने से मेरी आजीविका समाप्त हो रही है, अत यदि आप मुझ पर दया करते हुए कही अन्यत्र पधार जाए तो मैं और मेरा परिवार जीवित रह सकेंगे, अन्यथा सब को भूखे ही मरना होगा।"

अच्छन्दक की अन्तर्वेदना सुन कर करुणावतार भगवान महावीर उसी समय वहा से चल दिए। इनके कारण किसी को कष्ट हो यह

उन्हे सर्वथा असह्य था, इसीलिये इन्होने मोराक सन्निवेश मे प्रस्थान करने मे जरा भी विलम्ब नही किया।

आधा वस्त्र भी गिर गया :

भगवान जा रहे थे, मार्ग मे सुवर्णवालुका नदी पर उनका दीक्षा-कालीन देवदूष्य काटो मे उलझ कर गिर गया। इस समय प्रभु को दीक्षित हुए १३ महीने हो चुके थे। इस तरह तेरह महीने प्रभु वस्त्रधारी रहे, इसके पश्चात् ये अचेल अर्थात् वस्त्र-रहित हो गये। वे इस स्वल्प से साधनाकाल मे ही विदेह हो गए थे, देह का भान भूल से गए थे। आत्म-अवस्थित के लिये देह का ज्ञान कहा रह जाता है। जव देह का ज्ञान नही तो वस्त्र की क्या आवश्यकता थी ? वस्त्र देह के लिये है, देह वस्त्रो के लिये नही, अत अब न देह का ध्यान था और न वस्त्र का।

चण्डकौशिक सर्प का जागरण :

भगवान महावीर उत्तर वाचाला नगरी की ओर जा रहे थे। मार्ग मे कुछ व्यक्ति मिले तो उन्होने कहा— आगे चल कर एक दृष्टिविष भयकर सर्प रहता है, जिसका विप देखने मात्र से मनुष्य को जला देता है। उसकी विषैली फुफकारो से तो आकाश के पक्षी भी धराशायी हो जाते है। इसके विप ने वृक्षो को भी सुखादिया है। सर्प का नाम चण्ड कौशिक है, अत आप यह माग छोड दें। दूसरे मार्ग से चले जाए।"

परन्तु भगवान ने लोगो की इस बात को सुनकर भी अनसुना कर दिया और वे अपनी मस्ती से उसी रास्ते पर ही बढते चले गए। सच्चे महा-पुरुप की यही विशेषता होती है कि उसकी करुणादृष्टि मानव तक सीमित नही रहती, उनकी आत्मीयता जीव मात्र तक विस्तृत हो जाती है, इसीलिये भगवान महावीर ने नागराज चण्डकौशिक के उद्धार का निश्चय किया।

चण्डकौशिक : एक परिचय :

एक तपस्वी अपने शिष्य को साथ लेकर भिक्षा को जा रहे थे। शिष्य गुरु के पीछे था। अचानक एक मेण्ढक गुरु के पाव के नीचे दव

कर मर गया। शिष्य ने उसे देखा तो अपने गुरु से प्रायश्चित्त लेने को कहा। 'यह तो पहले ही मरा पड़ा था।" यह सोच कर गुरु ने शिष्य की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। शिष्य ने सायंकालीन प्रतिक्रमण करते समय पुनः कहा— 'मेण्ढक के मर जाने का आपको प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए।' शिष्य के बार-बार कहने से गुरु को क्रोध आ गया। क्रोधान्ध हो वे शिष्य को मारने दौड़े और थोड़ी ही दूरी पर एक स्तम्भ से टकरा कर उनका प्राणान्त हो गया।

वह तपस्वी वहां से मरकर कनकखल नामक आश्रम के कुलपति की धर्मपत्नी के गर्भ में बालक रूप से पैदा हुए। जन्म होने पर बालक का नाम कौशिक रखा गया। यह चण्ड (तेज) प्रकृति का था, फलतः चण्ड कौशिक के नाम से प्रसिद्ध हो गया। बड़ा होने पर उसे कुलपति बना दिया गया। इसे आश्रम के वृक्षों से बड़ा प्यार था। किसी को फल-पुष्प भी नहीं तोड़ने देता था। एक बार कुछ राजकुमार इकट्ठे होकर आश्रम के फल फूल तोड़ने लगे तो वह क्रोधित होकर कुल्हाड़े से उन्हें मारने दौड़ा। रास्ते में कूप में गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गई और वह आश्रम में सर्प बन गया। लोग भी उसे चण्डकौशिक ही कहने लगे। इसका विष बड़ा भयंकर था। आश्रम के बहुत से तापस इसने विष से जला दिए। अवशिष्ट तापस भाग गए। आश्रम उजड़ गया।

इसी चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिये प्रभु महावीर इधर आए और आते ही ये उसके बिल के पास ध्यान लगाकर खड़े हो गए।

सर्पराज को जब मनुष्य की गन्ध आई तो यह तत्काल बिल से बाहिर आया और इसने आते ही पूरे आवेश के साथ प्रभु के चरणों पर डंक दे मारा, परन्तु प्रभु महावीर पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ और वे शान्त भाव से ध्यान में खड़े रहे। नागराज ने इसे अपना अपमान समझा।

यह भी कहा गया है कि भगवान महावीर के शरीर से रक्तधारा के स्थान पर दुग्ध की धारा प्रवाहित हुई थी। सम्भव है इसे आज का बुद्धिवादी स्वीकार न करे। ऐसे बुद्धिवादियों के परितोष के लिये यह भी कहा जा सकता है कि भगवान महावीर के शरीर में कषायों

का अभाव था, अत दश-स्थान मे दुग्ध प्रवाहित हुआ' का यह अभिप्राय माना जा सकता है कि उनके शरीर से शुक्ललेश्या के श्वेत परमाणु प्रवाहित हुए और उनके स्पर्श से 'नाग' भी श्वेत हो गया, अर्थात् उसकी भावनाए भी विशुद्ध हो गई । परिणाम स्वरूप क्रोधावेश मे आकर उसने फिर इतने जोर से डक मारा कि रक्त की धारा प्रवाहित्त होने लगी ।

भगवान की सौम्य और शान्त मुखमुद्रा मे कोई अन्तर नही आया चेहरे पर पहले की भाति मुस्कराहट अठखेलिया कर रही थी । नागराज का अभिमान गल गया । वह शिथिल होकर प्रभु-चरणो पर फन रख कर शान्त हो गया ।

नागराज की यह दशा देखकर करुणासागर भगवान ने ध्यान खोला और वे मुस्कराते हुए बोले—"नागराज ! जागो, क्यो व्यर्थ मे क्रोध की आग मे जल रहे हो । इस क्रोधाग्नि ने तो पहले ही तुम्हारा बहुत नुकसान कर रक्खा है । अपने अतीत को देखो, पहले तुम मनुष्य थे, पर क्रोधाग्नि से जलकर सर्प बन गए हो । अब तो होश करो, अपने को सभालो ।"

भगवान के इन वचनों ने धधकती अग्निज्वाला पर जल डालने जैसा काम किया । नागराज का क्रोध शान्त हो गया और उसने एक अलौकिक शान्ति अनुभव की । अन्तर से स्फुरणा का स्रोत फूट पडा—"ऐसे शान्त वचन सुने हुए हैं" । चिन्तन मे गभीरता आने पर जाति-स्मरण ज्ञान की ज्योति जगमगाने लगी । जाति-स्मरण का अर्थ है—अपने पिछले जन्मो का परिबोध । बस फिर क्या था, पूर्व जीवन के चलचित्र आखो के आगे नाचने लगे, क्रोध के दुष्परिणाम कितने भयकर होते हैं, यह समझने मे कुछ भी देर नही लगी । अपने ही ज्ञान-चक्षुओ से अपने अतीत को देखकर नागराज बडा लज्जित एव खिन्न हुआ । अपने कृतकर्म के लिये पश्चात्ताप करते हुए नागराज ने मूक भाषा मे भगवान से क्षमा मागी । इसके बाद अहिंसा भगवती के चरणो मे अपने को समर्पित कर दिया । यही कारण है कि भविष्य मे किसी को काटा नही सताया नही । अन्त मे अपने जीवन से सर्वथा उदासीन होकर अपना मुख बिल मे कर लिया, शेष सारा धड बिल

मे वाहिर ही रक्खा। तदनन्तर भगवान महावीर वहा से चल दिये। भगवान महावीर को सर्वथा स्वस्थ वहा से जाते देखकर आस-पास के लोग भी सर्प के निकट आ गए और वदला लेने की भावना से वे सर्पराज पर ककर, पत्थर मारने लगे, परन्तु प्रायश्चित्त की भावना से सर्पराज सहिष्णु वन कर उन प्रहारो को समतापूर्वक सहन करने लगा। कुछ भावुक लोग सर्पराज की सहिष्णुता से प्रभावित होकर दूध, शक्कर आदि से उस की पूजा मे जुट गए। वहा पर मीठा आ जाने के कारण चीटियो का आगमन भी आरम्भ हो गया। वे चीटिया सर्पराज के शरीर को वुरी तरह से काटने लगी, परन्तु सर्पराज जरा भी विक्षुब्ध नही हुआ। आयु की समाप्ति होने पर एक दिन इसी शान्त भाव से जीवन-लीला समाप्त करके नागराज सहस्रार नामक आठवें[1] देवलोक मे जा विराजमान हुए। इस तरह महामहिम भगवान महावीर ने एक सर्प के जीवन का उद्धार करके विप को अमृत वनाने का एक ऐसा ऐतिहासिक आदर्श उपस्थित किया जो काल की अनन्त घाटियो को पार करने पर भी कभी विस्मृत नही हो सकेगा।

नय्या के खिवय्या :

नागराज चण्डकौशिक का उद्धार करने के पश्चात् भ्रमण करते हुए भगवान महावीर श्वेताम्बिका नगरी की ओर पधार रहे थे। रास्ते मे गङ्गा नदी पडती थी। वहा यात्रियो को नौका का उपयोग करना पडता था। भगवान महावीर भी अन्य यात्रियो के साथ नौका मे विराजमान हो गए। नाविको ने नौका चलानी आरम्भ ही की थी कि उसी समय उल्लू की आवाज आई। आवाज सुनकर शकुन-शास्त्र के जाननेवाले एक यात्री ने कहा—"आज खैर नही है, उल्लू की आवाज किसी भीषण उपद्रव के होने की सूचना दे रही है। पर ये (भगवान महावीर की ओर सकेत करके) महापुरुष वैठे है, सम्भव है, इनकी कृपा से वच जाए, अन्यथा मुश्किल है। पाच मिण्ट भी नही गुजरे होगे कि आधी चलने लगी देखते ही देखते नौका भंवर मे आ गई। इस आकस्मिक उपद्रव से सव कापने लगे।

---

१ "अट्ठमामस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो" —आव० चू० १ पृ० २७९

त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्व जन्म मे भगवान महावीर के जीव ने एक सिह को मारा था, उसी सिह का जीव सुदष्ट्र नाम का देवता वना। पुरातन वैरभाव के कारण उसी देव ने यह सारा उपद्रव खडा किया था। उपद्रव भी इतना भयकर था कि यात्रियो के कलेजे काप उठे। सव को अपनी-अपनी अन्तिम घडी दिखाई देने लगी। परन्तु अकेले महावीर जो सर्वथा निर्भीक थे, केवल उनके चेहरे पर भय का चिन्ह भी नही था। उपद्रव का आरभ तो काफी भयकर था, परन्तु प्रभु-कृपा कुछ ऐसी हुई कि आधी धीरे-धीरे शान्त हो गई और यात्री विना किसी विघ्न-वाधा के दूसरे किनारे पर पहुच गए। सभी यात्रियो की जिह्वा पर यही स्वर नाच रहे थे—"हमारी नय्या के खिवय्या तो महावीर ही है, यदि आज ये हमारे मध्य मे न होते तो हम सव समाप्त हो जाते—।" वृद्ध-परम्परा का विश्वास है कि भवनपति जाति के कम्वल और शम्वल नामक नागकुमारो ने उपद्रवी देव को समझा कर यह उपद्रव शान्त किया था, परन्तु हमारा विश्वास है कि इन नागकुमारो के पुरुषार्थ के पीछे भी भगवान महावीर का ही पुण्यप्रताप काम कर रहा था।

गोशालक का नियतिवाद

भगवान महावीर ने दूसरा चातुर्मास नालदा मे किया। यहा प्रभु एक जुलाहे के मकान मे ठहरे थे। मखलिपुत्र गोशालक[1] भी वही पर ठहरा हुआ था। भगवान महावीर के विलक्षण एव आदर्श त्याग-वैराग्य से वह भी वहुत प्रभावित हुआ। इस चातुर्मास मे भगवान ने महीने-महीने का उपवास तप चालू कर दिया। पहले मास-क्षमण (मास के क्षमण-उपवास) का पारणा जिस घर मे हुआ उस घर मे देवताओ ने पाच दिव्यो की वर्षा की इससे सारे नगर मे तपोमहिमा का प्रसार हो गया।

गोशालक ने जव तप की ऐसी आश्चर्य-जनक महिमा देखी तो वह भी भगवान के पास आने-जाने लगा। दूसरे मासक्षमण के पारणे

---

१ मखलि नामक एक मख [एक भिक्षुक जाति जो चित्रपट दिखाकर जीवन-निर्वाह करती है] के पुत्र को गौशाला मे पैदा होने के कारण गोशालक कहा जाता था।

मे जब पाच दिव्यो की वर्षा हुई तो इससे गोशालक और भी अधिक प्रभावित हुआ।

एक दिन कार्तिक पूर्णिमा के दिन भिक्षा को जाते समय गोशालक ने भगवान से पूछा—"महात्मन्! आज मुझे भिक्षा मे क्या मिलेगा?" भगवान तो मौन रहे, पर उन के चरण-सेवक सिद्धार्थ देव ने इन्ही की ओर से कहा—"बासी भात, खट्टी छाछ और एक खोटा रुपया।"

गोशालक यह भविष्यवाणी भगवान की ही समझता था, अत इसे मिथ्या प्रमाणित करने के लिये उसने बड़ा प्रयास किया, वह नगर के बडे-बडे सेठो के घर भी गया, परन्तु सभी स्थानो मे वह निराश ही लौटा। अन्त मे एक लुहार के यहा उसे बासी भात, खट्टी छाछ और दक्षिणा मे एक खोटा रुपया ही प्राप्त हुआ।

इस प्रकार भविष्यवाणी की सत्यता के प्रमाणित होने पर उसके मन पर बडा गहरा प्रभाव पडा। उसके मन मे भगवान के व्यक्तित्व के प्रति महान् आस्था हो गई। इस घटना से उसने यह भी विचार किया कि जो कुछ होनेवाला होता है वह पहले ही नियत अर्थात् निश्चित होता है, इसलिये नियतिवाद[२] का सिद्धान्त ही वास्तविक और सर्व श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त, उसने निश्चय किया कि ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिये मुझे महावीर का शिष्य बन जाना चाहिये।

दूसरा चातुर्मास

नालन्दा का चातुर्मास सम्पूर्ण होने पर भगवान महावीर ने वहां से विहार कर दिया और वे कोल्लागसन्निवेश मे पधार गए। वही पर उन्होने चौथे मास-क्षमण का पारणा किया। पूर्ववत् पाच दिव्यो की वर्षा यहा पर भी हुई। गोशालक को जब भगवान के विहार का पता चला तो वह भी भगवान को ढूढता हुआ कोल्लाग-सन्निवेश मे आ गया और प्रभु के चरणो मे प्रणत होकर उस ने प्रार्थना की—"भगवन्! आज से आप मेरे धर्माचार्य हैं, गुरुदेव है और मैं आपका चरण-सेवक शिष्य बनता हू—।"

भगवान मौन ही रहे। गोशालक ने आग्रह पूर्वक अपनी बात को

---

२ जो होना है, वह अवश्य होगा, यही सिद्धान्त नियतिवाद है।

पुन: दोहराया। फलत भगवान ने उसे साथ रहने की स्वीकृति प्रदान करदी[1]।

कोल्लागसन्निवेश से विहार कर देने पर भगवान स्वर्णखल पधारे। मार्ग मे कुछ ग्वाले खीर बना रहे थे। खीर को देखते ही गोशालक के मुंह मे पानी आगया। उसने कहा — "खीर खाकर चलेगे।"

भगवान तो मौन रहे, पर सिद्धार्थ देव ने कह दिया — "खीर खा नही सकेंगे, हण्डिया टूट जाने की स्थिति बन रही है।"

भगवान आगे बढे, पर गोशालक खीर खाने के लिये वही पर ठहर गए। कुछ ही क्षणो के वाद खीरवाली हण्डिया टूट गई, अत. गोशालक निराश होकर म्लान-मुख लिये भगवान के पास आ गया, इस घटना से उसे इस वात का भी दृढ विश्वास हो गया कि नियति अर्थात् होनहार टलती नही अत: नियतिवाद सर्वथा-यथार्थ है।

तीसरा चातुर्मास :

स्वर्णखल से विहार करते हुए भगवान ब्राह्मणगाव पधारे, यहा भगवान ने भोजन किया। तदनन्तर प्रभु चम्पापुरी आ गए। तीसरा चातुर्मास यही पर व्यतीत किया, चातुर्मास मे दो-दो महीने की तपस्या की। चातुर्मास की पूर्णता पर प्रभु 'कालयसन्निवेश' पधारे। यहा गोशालक को अपनी अनियन्त्रित प्रकृति के कारण जनता से प्रताडित और अपमानित होना पडा। गोशालक स्वच्छन्द और उद्दण्ड स्वभाव के थे, जहा कही भी जाते, कोई न कोई झझट खडा कर लेने के कारण लोगो से फटकार प्राप्त कर लेते थे।

चौथा चातुर्मास :

भगवान महावीर ने चतुर्थ चातुर्मास 'पृष्ठचम्पा' नामक नगरी मे सम्पन्न किया। इस चातुर्मास मे प्रभु ने चार मास का लम्वा तप किया। चातुर्मास की पूर्णता पर तप का पारणा किया और विहार करने पर प्रभु एक वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर खडे हो गए। वहा अन्य

---

१ "गोसालस्स मखलिपुत्तस्स एयमट्ठ पडिसुणेमि"

—भगवती० शतक १५/१

अनेको यात्री भी थे। शीतकाल होने से यात्रियो ने आग जलाई। प्रातःकाल होने पर आग को विना वुझाए ही वे चले गए। जोर की हवा चली, पास मे रक्खे सूखे घास मे आग लग गई, उसकी लपटें भगवान के निकट भी जा पहुची, परिणाम स्वरूप भगवान के पाव झुलस[४] गए। परन्तु सहिष्णुता के सागर प्रभु फिर भी ध्यानावस्थित ही रहे। वे अग्निजन्य परीषह से रत्ती भर भी चलायमान नही हुए।

अनार्य देश में संकटों की आंधियां :

भगवान महावीर अव लाढ नामक अनार्य देश मे पधारे। यहा उन्हे हृदय को कपा देने वाले कष्टो का सामना करना पड़ा। अनार्यदेश मे प्रभु को रहने के लिये अनुकूल स्थान नही मिलता था, अनार्य लोग इनके पीछे शिकारी कुत्ते लगा देते थे, जो उनके शरीर से मांस के लोथडे निकाल लेते थे। कही पर उन्हे दण्डो, भालो, पत्थरों और ढेलो के प्रहार सहन करने पडते थे। भगवान को लहूलुहान कर देने पर अनार्य लोग खूब हसने, तालियां पीटते। कही पर भगवान को ऊपर उछाल-उछाल कर गेन्द की तरह पटका जाता, परन्तु क्षमा-मूर्ति भगवान इन सव सकटो को कर्म-भोग समझ कर शान्त-भाव से सहन करते रहे थे। वे मन से भी कभी किसी का अनिष्ट नही सोचते थे।

पाचवां चातुर्मास :

इस तरह भगवान लोम-हर्षक कष्टो को सहन करते हुए मलयदेश की राजधानी भद्दिलनगरी मे आए और पाचवा चातुर्मास यही पर व्यतीत किया। इस चातुर्मास मे प्रभु ने लगातार चार महीने तपस्या मे ही व्यतीत किये और चातुर्मास के पश्चात् नगरी के वाहिर प्रभु ने पारणा किया। पारणा करने के अनन्तर जव प्रभु ने विहार किया तो मार्ग मे इनको जासूस समझ कर पकड लिया गया और उनकी बुरी तरह पिटाई की गई। साथ मे गोशालक को भी वडी निर्दयता से पीटा गया। गोशालक तो स्थान-स्थान पर ही अपनी भूलो के कारण प्राय मार

---

४ कल्पसूत्र के हिन्दी-टीकाकार लिखते है —

प्रभु के पैरो को चूल्हा बनाकर, आग जलाकर उस पर खीर पकाई, प्रभु ध्यानमुद्रा मे अचल रहे अत उनके पैर जल गए। —पृष्ठ ७७

खाते रहते थे, इसीलिये एक दिन इन्होने दु:खी होकर प्रभु से कहा—"आप के साथ रहने से तो मुझे मार खानी पड़ती है अत मैं आपके साथ नही रहूंगा।" यह कह कर गोशालक प्रभु से अलग हो गये और राजगृह की ओर प्रस्थान कर गए।

परमावधिज्ञान और छठा चातुर्मास—

अब भगवान महावीर विहरण करते हुए वैशाली होते हुए शालिशीर्ष गांव मे आए और यहां के एक उद्यान मे ध्यान लगाकर खडे हो गए। माघ महीने की भयंकर सर्दी थी, वर्फानी-तूफानी हवा शरीर कम्पा रही थी, तथापि भगवान मस्ती से आत्म-चिन्तन मे तन्मय हो रहे थे। अचानक ही मूसलाधार वर्षा होने लगी। कडकडाती सर्दी मे वर्फ से भी शीतल पानी शरीर को सुन्न करता जा रहा था।[1] परन्तु भगवान ध्यानस्थित थे, शरीर मे दूर आत्म-अवस्थित थे। यही पर उन्हे परमावधि-ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना समूचे लोक के रूपी द्रव्यो का मर्यादा-सहित साक्षात्कार कराने वाला ज्ञान परमावधिज्ञान होता है।

शालिशीर्ष ग्राम से भगवान महावीर चातुर्मास के बाद विहार करके भद्रिका नगरी पधारे। भागल पुर से आठ मील दूर दक्षिण में भदरिया ग्राम है, वही पर पहले भद्रिका नगरी थी। इसी नगरी मे प्रभु ने छठा चातुर्मास व्यतीत किया। वह समूचा चातुर्मास उपवास तपस्या मे ही व्यतीत हुआ। इस चातुर्मासिक व्रत का पारणा नगरी के बाहिर जाकर किया गया। गोशालक जो पहले प्रभु से अलग हो गए थे, पुन: इसी शालिशीर्ष ग्राम मे प्रभु के चरणो मे आ गए।

सातवां, आठवां चातुर्मास—

दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर ने सातवां चातुर्मास आलम्बिया नगरी मे और आठवा चातुर्मास राजगृह नगर मे सम्पन्न किया। ये

---

१ शास्त्रकारो का विश्वास है कि भगवान महावीर को ये कष्ट कटपूतना नामक किसी व्यन्तरी ने पूर्वजन्मो का बदला लेने के लिये दिये थे।

दोनो चातुर्मास उन्होने तपस्या में ही व्यतीत किए। चातुर्मास मे किसी भी दिन इन्होने अन्न और जल का सेवन नही किया। चातुर्मास समाप्त करने के अनन्तर चातुर्मास-स्थानो से बाहिर जाकर तपस्या के पारणे किये। चातुर्मासो से पूर्व भगवान ने "भद्दणा सन्निवेश" तथा "लोहार्गला" आदि अनेको ग्राम एव नगर पावन किए। इस सुदीर्घ यात्रा मे उन्हे नाना प्रकार के कष्टो का सामना करना पड़ा। प्राकृतिक उत्पातो, राजकीय पीडाओ और विविध-विध यातनाओ ने उन्हे विचलित करने के प्रयास किये, परन्तु सभी प्रयासो को हिमालय से टकराते वायु के झोको के समान विफल होकर लौट जाना पड़ा।

नौवां चातुर्मास—

राजगृह से विहार करके भगवान पुन अनार्य देश मे पधार गए। मानो सकटो मे इनको प्यार था, कर्म-निर्जरा की दृष्टि से सकटापन्न दशा में प्रभु को अधिक आनन्दानुभूति होती थी, इसीलिये दूसरी वार प्रभु अनार्य देश मे फिर चले गये। प्रभु जहा भी पधार जाते स्वय समाप्त होने के लिये परिपहसेना वही पर पहुच जाती थी। उन्हे नौवा चातुर्मास वृक्षो के नीचे तथा खण्डहरो के मध्य मे ही व्यतीत करना पडा। अनार्य देश का यह चातुर्मास समाप्त करने के अनन्तर भगवान फिर आर्य देश मे पधारे।

दसवां चातुर्मास—

भगवान महावीर सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम की ओर पधार रहे थे, गोशालक भी साथ ही थे। मार्ग मे सात पुष्पो वाले तिलो के एक पौधे को देख कर गोशालक ने भगवान से पूछा—"प्रभो! यह पौधा फल देगा या नही?" इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान बोले—"यह पौधा फल देगा और इस की फली मे सात दाने होगे।" गोशालक अविनीत और उद्दण्ड तो आरम्भ से ही था, अतएव उसने भगवान की भविष्यवाणी को मिथ्या प्रमाणित करने के लिये उस पौधे को जड से उखाड कर किनारे पर फैंक दिया। इनके जाने के बाद वर्षा हो गई, फलत वह पौधा जड़ जमा कर धीरे-धीरे फिर खड़ा होने लगा।

भगवान महावीर वहा से कूर्मग्राम पधारे थे। इस गाव के बाहिर

वैश्यायन नाम के एक तापस थे जो सूर्य की आतापना लिया करते थे। एक दिन वे सदा की भान्ति सूर्य की आतापना ले रहे थे, तापस की जटाए लम्बी थी, उनमे से जूए गिर रही थी, पर करुणावश वे तापस उन्हे उठा-उठा कर पुन अपनी जटाओ मे रखते जा रहे थे। गोशालक ने जब यह दृश्य देखा तो यह अपने सहज उद्दण्ड स्वभाव के अनुसार तापस का उपहास उडाने लगा और अनाप-शनाप बाते भी कहने लगा। तापस पहले तो शान्त रहे, पर जब गोशालक बोलता ही चला गया तब उनको आवेग आ गया, गोशालक को जलाने के लिये इन्होने तत्काल तेजोलेश्या छोड दी। तपविशेष के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली शक्ति विशेष से जनित तेज की ज्वाला तेजोलेश्या होती है। तेजोज्वाला को निकट आते देख गोशालक भागा और 'बचाओ-बचाओ' कहता हुआ भगवान के चरणो से लिपट गया। गोशालक की दयनीय दशा देख कर परमकृपालु भगवान ने शीतललेश्या छोड कर तेजोलेश्या के प्रभाव को शान्त कर दिया। शीतललेश्या भी तपविशेष से उत्पन्न एक शक्तिविशेष होती है जो तेजोज्वाला के प्रभाव को समाप्त कर देती है। गोशालक को सुरक्षित देख कर तापस बोले—"मूढ! इन सन्तो की कृपा से तू बच गया है, अन्यथा आज तू बच नही सकता था।"

कूर्मग्राम मे कुछ दिन ठहर कर भगवान महावीर ने पुन सिद्धार्थपुर की ओर विहार कर दिया। रास्ते मे तिल का पौधा लहलहा रहा था। यह वही पौधा था जिसे गोशालक ने उखाड़ कर फैंक दिया था। पौधा देखते ही उसे पुरानी बात याद आ गई। भगवान की भविष्यवाणी के अनुसार सात दाने देखने के लिये जब पौधे की फली तोड़ी तो सचमुच उसमे सात ही दाने थे। गोशालक भगवान की भविष्य-वाणी की सत्यता से आश्चर्य-चकित रह गया। जहा उसे भगवान की वाणी पर विश्वास बढा वहा वह नियतिवाद का भी पक्का समर्थक हो गया। उसने सोचा अब मुझे भगवान से जुदा होकर स्वतन्त्र रूप से नियतिवाद का प्रचार करना चाहिये। परिणाम-स्वरूप वह भगवान से जुदा हो गया और उसने नियतिवाद का प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

भगवान महावीर धीरे-धीरे सिद्धार्थपुर पधार गए। वहा से जब भगवान वाणिज्यग्राम को ओर जा रहे थे तो मार्ग मे उन्हे नदी पार

करने के लिए नौका का एक बार फिर प्रयोग करना पडा। धीरे-धीरे भगवान वाणिज्यग्राम मे पधार गये। वाणिज्यग्राम मे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के आनन्द नामक एक श्रावक रहते थे, इन्हे अवधिज्ञान प्राप्त हो रहा था। भगवान के चरणो मे आनन्द भी पहुचे। प्रभु को वन्दना करने के अनन्तर इन्होने कहा—'भगवन! आप का मन और तन दोनो ही वज्र जैसे दृढ हैं, इसीलिए आप कठोर से कठोर सकट को समभाव से सहन कर लेते है, पर आप की तप·साधना बहुत जल्दी ही सफल होनेवाली है। एक दिन यह साधना आप को केवल ज्ञान की महाज्योति से ज्योतिर्मान बना देगी।" यह कह कर आनन्द श्रावक वन्दन करके चले गए। प्रभु ने भी वाणिज्यग्राम से विहार कर दिया और वे श्रावस्ती नगरी मे पहुचे। दसवां चातुर्मास इन्होने इसी नगरी मे व्यतीत किया।

संगम देव के उपद्रव—

भगवान महावीर ने चातुर्मास के अनन्तर श्रावस्ती नगरी से विहार कर दिया और वे "सानुलट्ठिय सन्निवेश" मे पधार गए। वहा पर प्रभु ने लगातार सोलह दिन का उपवास किया। भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा और सर्वतोभद्रप्रतिमा की आराधना भी सम्पन्न की। भद्रप्रतिमा मे प्रभु पूर्व, दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशा मे चार-चार प्रहरो तक ध्यान करते रहे। दो दिन की तपस्या का पारणा न कर के प्रभु ने महाभद्रप्रतिमा की आराधना आरम्भ कर दी। इसमे प्रति दिशा एक-एक दिन रात तक ध्यान लगाया। फिर इस का पारणा किए विना ही सर्वतोभद्रप्रतिमा की साधना आरम्भ करदी। इसमे दश दिशाओ के क्रम से एक-एक दिन रात तक ध्यान लगाए और यह दश दिनो मे सम्पन्न की। इस तरह सोलह दिन के उपवासो मे प्रभु ने तीनो प्रतिमाओ की ध्यान साधना परिपूर्ण करदी। तदनन्तर प्रभु ने आनन्द गाथापति के घर से सोलहदिनो के व्रतो का पारणा किया। प्रभु की इस कठोर तप साधना से प्रभावित हो कर देवताओ ने आनन्द गाथापति के घर पाच दिव्यो की वर्षा की।

"सानुलट्ठिय सन्निवेश" से विहार करके प्रभु "दृढ भूमि" पधारे इस नगर के उद्यान मे प्रभु ने तेले की तपस्या करके ध्यान लगा दिया।

इधर प्रभु ध्यान की ज्योति जगा रहे थे और उधर स्वर्गपुरी मे देवराज शक्रेन्द्र प्रभु की ध्यान-गत दृढता की महिमा गाते हुए कह रहे थे— महावीर जैसे वीर और धीर तपस्वी को आज तक किसी जननी ने जन्म नही दिया। मानव तो क्या दानव भी भगवान महावीर को उनकी ध्यान साधना से विचलित नही कर सकता।

देव-सभा मे सगम नाम का एक देवता भी बैठा हुआ था। वह शक्रेन्द्र महाराज की बात से सहमत नही था। उसका विचार था कि महावीर भी एक अन्नकीट मानव है, उनको ध्यान-साधना से गिराना क्या कठिन है? मालूम होता है हमारे इन्द्र को महावीर से कुछ वैयक्तिक लगाव है, अन्यथा वे चुनौती की भाषा मे कभी न वोलते। चलो, आज महावीर के महावीरत्व को परखता हू।

उसने आते ही कष्टो का जाल विछा दिया। प्रभु के रोम-रोम मे भयकर वेदना उत्पन्न करके उनको विचलित करने के प्रयास किए गए।

प्रलयकारी धूल की वर्षा की, वज्रमुखी चीटिया उत्पन्न की गई, जिन्होने मास नोच-नोच कर प्रभु के शरीर को खोखला कर दिया, डास और भयकर मच्छर छोडे गए जो प्रभु का रक्त चूसने लगे, दीमक उत्पन्न की गई जो प्रभु के शरीर को काटने लगी, विच्छुओ द्वारा जहरीले डक लगवाए, नेवले उत्पन्न किए जो प्रभु के मास को नोचने लगे, भीमकाय सर्प उनके शरीर को काट-काट कर खाने लगे, हाथी और हथिनिया प्रकट की गई जिनकी सूंडो से प्रभु को उछलवाया गया और उनके तीक्ष्ण दातो से प्रभु पर प्रहार करवाए गए, पिशाच वन कर उन्हे डराया, धमकाया और वर्छो से परिव्यथित किया गया, प्रभु के शरीर को वाघ वन कर नखो से विदीर्ण किया गया, सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप धारण कर उनको विलाप करते दिखाया गया, भगवान के पैरो के मध्य मे आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की गई, चण्डाल का रूप वना कर भगवान के शरीर पर पक्षियो के पिजरे लटकाए गए, जो अपनी चोचो और नखो से शरीर पर प्रहार करने लगे और आधिया चलाकर अनेको वार भगवान के शरीर को ऊपर उठाया और नीचे फैंका, कलकलिका वायु (वह वायु जो वडे वेग के साथ चक्र के आकार मे घूमता है) उत्पन्न करके उससे भगवान को चक्र की तरह

घुमाया गया. कालचक्र (वह चक्र जो मृत्यु-जनक हो) चलाया जिससे भगवान घुटनो तक जमीन मे धस गये, देव रूप से विमान मे बैठकर सामने आया और बोला—"स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग अर्थात् मोक्ष ?" तथा बीस स्वर्गीय देविया उपस्थित की गई जो वैषयिक हावभाव के साथ भगवान के आगे अश्लील नृत्य करने लगी।

इस तरह सगम देव ने भगवान महावीर को प्रतिकूल और अनुकूल सभी तरह के कष्ट दिए, यह सब कुछ एक ही रात्रि मे किया गया था। भगवान के जीवन की यह सबसे बडी भयकर रात्रि थी। इस रात्रि मे सगमदेव ने भगवान को ध्यान से विचलित करने के लिये अपनी सारी शक्तिया लगा दी, परन्तु यह सब कुछ कर लेने पर भी वह भगवान को साधना से चलाय मान नही कर सका। प्रभु ने इन समूचे सकटो को कर्मयोग समझ कर पूर्ण समताभाव के साथ सहन किया।

करुणा के परम-पावन स्रोत

भगवान के विहार कर देने पर भी उसने भगवान का पीछा नही छोड़ा। भगवान 'तोसली गाव' के उद्यान में ध्यान लगाए खड़े थे तब सगम भगवान को उकसाने के लिये साधु का वेष पहन कर किसी के यहा चोरी करने लगा। पकडा जाने पर जब उसकी पिटाई होने लगी तो उसने तत्काल लोगो से कहा—"मेरा कोई दोष नही है, मेरे गुरु ने मुझे चोरी करने को कहा था, मैं तो केवल गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हू, जो कुछ कहना है मेरे गुरु को कहो। मेरे गुरु बाहिर उद्यान मे कपट-ध्यान लगाकर खड़े है।" लोगों ने सगम की इस बात पर विश्वास करके प्रभु को बहुत बुरी तरह से परेशान किया, परन्तु प्रभु ने इस परेशानी को भी शान्ति के साथ सहन कियो।

अब महावीर 'मोसलीगाव' पधार गए, गाव के बाहिर ही जब प्रभु ध्यान मे अवस्थित हो गए तब सगम ने उनके पास अनेको शस्त्रास्त्र रख दिए और स्वय चोरी करता हुआ जब पकडा गया तो भगवान को अपना गुरु बताकर फिर पकड़वा दिया। राज्य-कर्मचारियो ने जब शस्त्रास्त्र देखे तो भगवान को पक्का चोर समझ कर फासी पर लटकाने का निर्णय कर दिया। ज्यो ही भगवान को फासी के तख्ते पर चढा

कर और गरदन मे फदा डालकर नीचे मे तख्ता हटाया गया नो तत्काल फदा टूट गया, फन्दा पुन. डाला गया, पर वह दूसरी वार भी टूट गया, इस तरह मात वार गरदन मे फदा डाला गया और तख्ता हटाते ही वह मातो वार टूट गया। तव राज्य-कर्मचारियो ने इन्हे कोई निर्दोष तपस्वी जान कर उनसे क्षमा मागी और छोड दिया।

इस तरह संगम देव लगातार छ महीने प्रभु को परिपीडित करता रहा, तथापि प्रभु अपनी धर्म-साधना से एक तिल भर भी इधर-उधर नहीं हुए। भगवान को पूर्ण वीर और धीर देख कर अन्त मे सगम निराश हो गया। देवराज शक्रेन्द्र महाराज के द्वारा की गई स्तुति से प्रभावित होकर तत्काल प्रभु के चरणो मे नतमस्तक होकर क्षमा मागने लगा। क्षमा माग कर सगम वापिस जाने ही लगा था कि उसे प्रभु की आखो मे आसू दिखाई दिए। आसू देख कर वह आश्चर्य-चकित रह गया। उसने भगवान से पूछा :—

"भगवन्! आपके नेत्रो मे ये आसू क्यो ? जब इतने भयकर सकट काल मे आप नही घबराए, तो अब यह अधीरता कैसी ? क्या कोई कष्ट है ?"

"सगम! मेरे पास रहकर तुमने पापो का जो बोझ अपने सिर पर लाद लिया है, एक दिन उनका तुम फल प्राप्त करोगे, उस फल का उपभोग करते हुए जब तुम तडपोगे और वह तडप जब मेरे ज्ञान-चक्षुओ के सम्मुख आती है तो मेरा कलेजा काप उठता है। मैं सोचता हू, उस तडप का कारण मै बना हूं। इसी बात का मुझे अत्यधिक दु:ख है। मैं किसी को परिपीडित नही देख सकता," यह कहते-कहते प्रभु की आखे फिर डबडबा आई।

करुणामूर्ति-प्रभु वीर की परमपावनी करुणा को देखकर सगम पानी-पानी हो गया। मन ही मन उसने कहा—'कहा मै निर्दयी, अधम, नीच एव पामर-जीव और कहा ये मेरे ही दु.ख से आकुल-व्याकुल होने वाले महान् करुणाशील आदर्श सन्त ?' उसे बडी आत्म-ग्लानि हुई। उसका दिल भर आया, उसने देवाधिदेव भगवान महावीर के पावन चरणो मे प्रणत हो कर विनति की — "करुणा-सागर! आज मै ने पहली वार आपके करुणा-स्वरूप पवित्रात्मा के दर्शन किए है। प्रभो!

"मुझ अधम को क्षमा कर दो। आज स्वर्ग-लोक की दैवी-शक्ति इस अध्यात्म-शक्ति के सन्मुख लज्जित है, पराजित है और विजित है।"
अन्त मे सगम प्रभु से क्षमा का आश्वासन पाकर वहां से चला गया।

छः मास की घोर तपस्या और ग्यारहवां चातुर्मास :

जब सगम चला गया तब भगवान ने अन्न-जल ग्रहण किया। जिस दिन यह अन्न-जल ग्रहण किया गया था, यह भगवान की उपसर्ग सहित छ मास की लंबी तपस्या का पारणा था और प्रभु ने व्रजगाव से विहार किया। 'श्वेताम्बिका' आदि नगरियो के बाहिर एक उद्यान मे प्रभु ने ग्यारहवा चातुर्मास व्यतीत किया। इस चातुर्मास मे वे लगातार चार महीने तपस्या ही करते रहे।

जीर्ण सेठ की लक्षण दान-भावना :

वैशाली नगरी मे जिनदत्त नाम के साधु-सन्तों के परम-भक्त श्रावक थे, इनका निवास-स्थान जीर्ण-शीर्ण था, इसीलिये ये जीर्ण-सेठ के नाम से प्रसिद्ध थे। ये प्रतिदिन भगवान के दर्शनार्थ जाया करते थे। "मेरे घर भी प्रभु आहार ग्रहण करें' यह इनकी प्रबल भावना थी। इसीलिये ये प्रतिदिन भगवान से निवेदन भी करते थे, परन्तु निरन्तर उपवास चलते रहने के कारण इनकी आशा पूर्ण नही हो पा रही थी।

जीर्ण-सेठ को पूर्ण विश्वास था कि चातुर्मासिक-तप का पारणा भगवान मेरे यहा पर करेंगे। इसी विश्वास पर ये चातुर्मास समाप्ति से अगले दिन अपने घर मे बैठ कर भगवान की प्रतीक्षा करने लगे। भगवान जीर्ण-सेठ के घर न जाकर पूर्ण नामक किसी दूसरे सेठ के घर पधार गए और वही पर इन्होने चातुर्मासिक-तप का पारणा कर लिया।

इधर जीर्ण सेठ की प्रतीक्षा बडा ही उत्कृष्ट-रूप धारण कर चुकी थी। भावनागत समुच्चता के कारण जीर्ण-सेठ ने बारहवे देवलोक मे पैदा हो जाने की भूमिका तैयार करली।

चमरेन्द्र द्वारा शरण-ग्रहण करना :

वैशाली का चातुर्मास समाप्त करके प्रभु 'सुसुमार' पधारे, वहा

वे अशोक-वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर आत्म-साधना करने लगे। उस समय नवजात असुरजाति के देवो के स्वामी चमरेन्द्र ने जब अवधिज्ञान से अपने ऊपर प्रथम-देवलोक के स्वामी शक्रेन्द्र महाराज को सिंहासन पर बैठे देखा तो वे क्रोध से तमतमा उठे। कहने लगे—"यह मेरे सिर पर बैठने वाला कौन है?" साथी देवताओ ने कहा—"देवेश! ये पहले देवलोक के नाथ शक्रेन्द्र महाराज है। अपने सिंहासन पर विराजमान हैं। नीचे-ऊपर बैठने का यह क्रम तो सदा से ऐसे ही चला आया है, अत आप इससे खिन्न न हो।"

चमरेन्द्र अभिमानी थे, अतः अभिमान की भाषा मे बोले—"मैं चमरेन्द्र हू, मेरे से पहले जो यहां थे वे सब चमरिया थी। मैं जब तक शक्रेन्द्र को सिंहासन से गिरा नही देता, तब तक मैं चैन न लूगा। चमरेन्द्र वहाँ से उठे और यह सोचते हुए कि मुझे किसी परम-शक्ति का सहारा लेना आवश्यक है, वे जहां भगवान महावीर ध्यान लगा कर खड़े थे, वहा आए, प्रभु को चरण-वन्दना करके बोले — "प्रभो! मैं आपके चरण की शरण लेकर शक्रेन्द्र को दण्डित करने जा रहा हू।"

वे अपनी वैक्रिय शक्ति से सीधे सौधर्म देवलोक मे जा पहुचे, जाते ही ऐसी भयकर हुंकार की, जिस से समूचा देव-विमान काप उठा। कुछ क्षणो के लिये तो स्वय देवेन्द्र भी स्तब्ध रह गए, परन्तु सारी स्थिति समझकर उन्हे बड़ा क्रोध आया, फलत. उन्होने सिंहासन पर बैठे-बैठे ही अपना वज्र फैंका। हजारो भयकर ज्वालाए बखेरता हुआ वज्र जब चमरेन्द्र की ओर आया तो वे घबरा उठे। वे तत्काल वापिस दौडे, वज्र भी पीछे-पीछे आने लगा। कही शरण न पाकर, चमरेन्द्र भगवान महावीर के चरणो मे "बचाओ-बचाओ" कहते हुए जा छिपे। इधर इन्द्र ने अवधिज्ञान से चमरेन्द्र को प्रभु के चरणो मे छिपा देखा तो वे शीघ्र ही स्वर्ग-लोक से दौड़े, भगवान से वज्र अभी चार अगुल दूर था कि देवराज ने उसे पकड़ लिया। चमरेन्द्र ने भगवान की चरण-शरण ग्रहण कर ली थी. इसलिये उसे अभयदान दे दिया और स्वय प्रभु-चरणो को नमस्कार करके वापिस स्वर्गपुरी मे चले गए। देवेन्द्र के चले जाने पर चमरेन्द्र भी प्रभु के चरणो से निकले और अपने स्थान की ओर यह कहते हुए चल दिए कि "प्रभो! यदि आज आपकी चरण-शरण

ग्रहण न करता तो सचमुच मेरा जीवन-भवन धराशायी हो जाता। भगवन् ! आप वास्तव मे अशरण-शरण हैं।"

राजकुमारी चन्दनबाला :

भगवान महावीर सुसुमार नगर से विहार करके ग्राम-नगरों मे विचरते हुए कौशाम्बी मे पधारे। यहा पर प्रभु ने एक कठोर अभिग्रह अर्थात् प्रण धारण किया— "अविवाहित और बाजार मे बिकी राज-कन्या हो, सिर मुंडा हुआ हो, हाथो मे हथकडिया और पावो मे बेडिया हो, तीन दिनो की भूखी हो, न घर मे हो और न ही घर से बाहिर हो, किसी अतिथि की प्रतीक्षा मे हो, खाने के लिये उबले हुए बाकले छाज मे लिये खडी हो, प्रसन्न-मुख हो, पर आखो मे आसू भी हो" ऐसी राज-कन्या मुझे आहार दे तो मैं आहार ग्रहण करूगा। अन्यथा छ: महीने तक भोजन ग्रहण नही करूगा।" इस अभिग्रह को धारण करने के अनन्तर प्रभु जब भिक्षा के लिये नगरी मे जाते तो अभिग्रह की शर्ते पूरी न होने से खाली ही वापिस लौट आते। ऐसे करते-करते प्रभु को पाच महीने पच्चीस दिन हो गए। समस्त नगर-निवासी प्रभु के आहार ग्रहण न करने से व्यथित थे पर किसी का कोई वश नही चल रहा था। सभी को इस बात का अवश्य आश्चर्य था कि इतने दीर्घ उपवास की दशा मे भी प्रभु के मुख-मण्डल पर तप साधना-जनित तेज कुछ निराली ही छटा दिखला रहा था।

एक दिन प्रभु कौशाम्बी नगरी के विख्यात सेठ धन्ना के घर मे भिक्षार्थ गए तो वहा पर तीन दिनो की भूखी राजकुमारी चन्दनबाला छाज मे उडद के बाकले लिये भिक्षा देने के लिये किसी जगतारक सन्त की प्रतीक्षा कर रही थी। दीर्घ तपस्वी तेजस्वी भगवान महावीर को देख कर उसका रोम-रोम मुस्करा उठा। उसने तत्काल प्रभु से भोजन ग्रहण करने की विनीत प्रार्थना की। अभिग्रह की अन्य सभी शर्ते पूर्ण थी, किन्तु एक अपूर्ण थी—राजकुमारी की आखो मे आंसू नही थे, इसलिये प्रभु वापिस लौटने लगे। पर भगवान को वापिस जाते हुए देख कर चन्दनबाला अपने आपको कोसती हुई विह्वल हो उठी— 'भगवन् ! मुझ अभागिन से क्या अपराध हो गया है ? सन्त तो परम कृपालु, जगतारक होते हैं, इस दीन सेविका को क्यो ठुकराते हो ?

इतना कहते ही उसकी आखे डबडबा आई। देख कर करुणासागर प्रभु वापिस आगए। वापिस आने को देर थी कि आखो मे आसू आने पर भी राजकुमारी के चेहरे पर मुस्कराहट नाचने लगी। इस तरह अभिग्रह की शर्त पूरी होने पर प्रभु ने चन्दनबाला के हाथो से बाकले ग्रहण करके पाच महीने २५ दिनो की लम्बी तपस्या का पारणा किया। पारणा करने के साथ ही देवताओ ने पाच दिव्यो की वर्षा की। दान के प्रभाव से हथकडिया हाथो के और बेडिया पावो के आभूषणो के रूप मे परिवर्तित हो गई। यत्र, तत्र, सर्वत्र होनेवाले जय-जयकारो से आकाश गूज उठा।

राजकुमारी चन्दनबाला वही महासती चन्दनबाला है जो कभी राजसी वैभव की सुखद छाया मे जन्मी, परिवर्धित और सम्वर्धित हुई, एक दिन एक सारथी द्वारा बाजार मे नीलाम करके एक वेश्या के हाथो बेची गई। शील देवता के प्रताप से जो वेश्या के कुचक्र से निकली और धन्ना सेठ ने जिसे खरीदा। कही मेरी सौत न बन जाए इस विचार से सेठानी ने जिसके लम्बे-लम्बे केशो को काट कर तथा हाथो मे हथकडिया और पावो मे बेडिया डाल कर भूमिगृह मे बन्द कर दिया। तीन दिनो के पश्चात् सदाचारी पिता उस सेठ द्वारा भूमिगृह से बाहिर निकाली गई, खाने को जिसको छाज मे उडद के बाकुले दिए गए और वे ही बाकुले जो पतित-पावन भगवान महावीर के हस्त-पात्र मे जाकर वरदान बन गए। प्रभु-कृपा से जिसके सदा के लिये सब सकट समाप्त हो गए। करुणा-वरुणामय भगवान महावीर को केवल ज्ञान होने पर चन्दनबाला प्रभु की प्रथम शिष्या बनी तथा जिसने ३६ हजार साध्वियो पर आध्यात्मिक नेतृत्व करके सदा के लिये अपने जीवन को अमर बना लिया।

बाहरवां चातुर्मास

कौशाम्बी नगरी मे अपने अभिग्रह का पारणा करने के बाद भगवान महावीर ने वहा से विहार कर दिया। सुमगला आदि नगरियो को पावन बनाते हुए प्रभु चम्पा नगरी मे पधारे और वही पर बाहरवां चातुर्मास व्यतीत किया।

कानों में कीलियां ठोकना

चम्पा नगरी से विहार करते हुए, भगवान महावीर 'छम्माणि'[1] गाव मे पधारे। गाव के वाहर प्रभु ध्यान लगा कर खडे थे। सायकाल एक ग्वाला आया। वह अपने पशु वहा पर छोड कर अपने गाव चला गया। जव वापिस आया तो वहा पशु न देखकर प्रभु मे पशुओ के सम्वन्ध मे पूछने लगा। ध्यानस्थ होने के कारण प्रभु मौन रहे, प्रभु को मौन देखकर उसे क्रोध आ गया। वोला—"पहले मैं तुम्हारे कान खोलता हूं।" इतना कहकर उस अज्ञानी ने भगवान महावीर के कानो मे कीलिया ठोक दी। इससे वेदना का होना स्वाभाविक ही था, परन्तु प्रभु ने कर्मभोग समझ कर इसे भी समता से सहन कर लिया।

इसी दशा मे प्रभु वहां से चले और मध्यपावा नामक नगरी मे पधारे, वहा आहारार्थ एक वैश्य के घर गए, जिस समय वहा पहुचे उस समय वैश्य अपने किसी मित्र से वार्तालाप कर रहा था वद्यराज ने प्रभु को निहारते ही कहा—इनके चेहरे मे तो कोई व्याधि है। उसने अपने मित्र से कहा कि सन्त जी को रोको, इनको मैं अभी देखता हू। परन्तु प्रभु तो इतने मे चले गए और वाहर उद्यान मे जाकर ध्यान में अवस्थित हो गए। वैद्य जी प्रभु की व्याधि दूर करना चाहते थे, फलत· वे अपने मित्र को लेकर उद्यान मे पहुचे, इन्हे प्रभु के चेहरे को ध्यान से देखा तो देखने पर पता चला कि इनके कानो मे कीलिया ठुकी हुई हैं। उन्होने उसी समय कीलियां निकाली। इस क्रिया से भगवान महावीर को वहुत वेदना हुई, वैद्य ने घावो पर औषधिया लगाई। भगवान की दशा देखकर वैद्य वोले— लोग कितने दुष्ट हैं जो ऐसे सन्तो को भी परेशान करने से नही चूकते, परन्तु ये सन्त भी धन्य है जो इतनी असह्य वेदना होने पर भी विल्कुल शान्त दिखाई दे रहे हैं।

उपसर्ग और सहिष्णुता

भगवान महावीर के जीवन-शास्त्र का परिशीलन करने से पता

१ यह गाव मगध देश मे था, वौद्ध ग्रन्थो मे इसका नाम खाउमत प्रसिद्ध है।-
—वीर विहार मीमांसा

चलता है कि भगवान आदि नाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक जो २३ तीर्थङ्कर हुए हैं,इन समस्त तीर्थङ्करो की अपेक्षा चौवीसवे तीर्थङ्कर महावीर का कर्म-भार वहुत ही प्रवल और अधिक था । यही कारण है कि अकेले भगवान महावीर को साधना काल मे जितने कष्टो, सकटो और उपसर्गो का भोग करना पड़ा उतने कष्टो, सकटो और उपसर्गों का उपभोग २३ तीर्थकरों ने नही किया ।

भगवान महावीर के साधनाकाल मे एक ओर यदि सकट अपनी भयकरता की चरमसीमा पार करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर भगवान महावीर की सहनशीलता भी अपनी उत्कृष्टता की पराकाष्ठा पर पहुची हुई दृष्टिगोचर होती है। मध्यपावा नगरी के बाहिर ग्वाले ने भगवान महावीर के कानो मे कीलिया ठोक कर जो कष्ट दिया था, यह भगवान के साधक-जीवन का अन्तिम उपसर्ग माना जाता है। आश्चर्य इस बात का है कि साधना-काल मे सवसे पहला उपसर्गभ ग्वाले के हाथो से हुआ था और अन्तिम उपसर्ग भी ग्वाले के द्वारा ही दिया गया था ।

साधनाकाल की तपस्या

भगवान महावीर का साधनाकाल कुछ अधिक साढे वारह वर्ष का था, कल्पसूत्रकार भगवान का साधनाकाल कुछ अधिक वारह वर्ष मानते हैं, इतने लम्बे-काल मे प्रभु ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया । शेष सव दिन तप.-साधना मे ही व्यतीत किए। इस तपस्या मे जल का उपयोग भी नही किया गया था। निर्जल तपस्या के पारणे भी नीरस आहार से किये जाते थे। तपस्या तो सभी तीर्थङ्कर करते रहे हैं, परन्तु जो कठोर उपसर्ग-सहित तप साधना भगवान महावीर ने की है, वह किसी अन्य तीर्थङ्कर ने नही की। इसीलिये यह विना किसी झिझक के कहा जा सकता है कि भगवान महावीर की तपस्या अतीत के अन्य तीर्थङ्करो से उत्कष्ट थी। साधना-काल मे भगवान महावीर ने जो उपवास-तपस्या की उसकी तालिका इस प्रकार है :—

एक छमासी तप, एक पाच दिन कम छमासी तप, नौ-चातुर्मासिक

तप, दो त्रैमासिक तप, दो सार्ध द्वैमासिक तप, छ द्वैमासिक तप, दो सार्धमासिक तप, बारह मासिक तप, बहत्तर पाक्षिक तप, दो दिन की एक भद्रप्रतिमा, एक महाभद्रप्रतिमा चार दिन की, एक सर्वतोभद्रप्रतिमा दस दिन की, दो सौ उनतीस बेले, बारह उपवास इस तपस्याकाल के ग्यारह वर्ष छ मास पच्चीस दिन होते हे। तपस्या के पारणे के ३४९ दिन होते है। ये सब मिला कर बारह वर्ष छ मास चौदह दिन बनते हैं। इन दिनो मे दीक्षावाला दिन सकलित करने पर इनकी कुल सख्या १२ वर्ष ६ मास १५ दिन हो जाती है।

भगवान महावीर चातुर्मास काल को छोड कर शेष आठ मास विहरण किया करते थे। गाव मे एक रात्रि और नगर मे पाच रात्रि से अधिक नही रहते थे। यत्र, तत्र, सर्वत्र इनके ध्यान दीपक सदा जगमगाते रहते थे, उनकी ज्योति को भगवान महावीर ने कही बुझने नही दिया।

भगवान की २१ उपमाएं—

विश्व-शान्ति, अहिंसा, क्षमा, तपस्या और तितिक्षा के अमर सन्देशवाहक भगवान महावीर विश्व के एक क्रान्तिकारी, ऐतिहासिक अध्यात्म-महापुरुष थे। इन के महामहिम, तेजस्वी व्यक्तित्व को यदि उपमा की भाषा मे अभिव्यक्त करने लगे तो हजारो उपमाए प्रस्तुत की जासकती हैं, परन्तु शास्त्रकारो ने उनके व्यक्तित्व की झाकी दिखलाने के लिए निम्नोक्त २१ उपमाओ से उन्हे उपमित किया है—

महावीर कास्य-पात्र के समान निर्लेप, शखकी तरह निरञ्जन, जीव की तरह अप्रतिहतगति, आकाशकी तरह परावलम्बन से रहित, वायु की भाति अप्रतिबद्ध, शरद् कालीन जल की तरह निर्मल, कमल के समान निर्लिप्त, कछुए के समान जितेन्द्रिय, गैण्डे के समान दृढ, पक्षी के समान अपर दिन की अपेक्षा से रहित, भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त, गन्धहस्ती के समान बल-भण्डार, वृषभतुल्य पराक्रमी, सिह के समान अपराजेय, सुमेरु के समान स्थिर, सागर-सम-गम्भीर, चन्द्रसदृश सौम्य, सूर्य के समान तेजस्वी, स्वर्ण के समान भास्वर, पृथ्वी के समान सहिष्णु और अग्नि के समान देदीप्यमान थे। भगवान् महावीर के उपर्युक्त गुण उनकी गौरव-गाथा को स्पष्ट कर रहे है। ●

अपराण्हे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृंभकाग्रामे ।।
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्न केवलं ज्ञानम् ।।

आप जृम्भिका ग्राम के निकट बहनेवाली ऋजुकूला नदी के तट पर जहा कि शाल वृक्ष था और उसके नीचे एक शिलापट्ट था. षष्ठ भक्त पूर्वक अपराण्ह काल मे आप उस पर विराजमान हुए आपको क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो जाने पर वैशाख शुक्लादशमी के दिन जबकि चन्द्रमा हस्त एव उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के बीच मे था 'केवल ज्ञान' प्राप्त हुआ।



केवल ज्ञान कल्याणक

श्री मनोहर मुनि 'कुमुद'

केवल-ज्ञान-कल्याराक

० ४ ०

भगवान महावीर विचरण करते हुए जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजु पालिका नदी के शान्त किनारो को अपने चरण-स्पर्श से पावन करते हुए श्यामक गाथापति के खेत मे पहुचे और वहा शालि वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये।

वैशाख का मधुर मास चल रहा था। शुक्लपक्ष अपने दसवें अश मे प्रवेश कर चुका था। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से चन्द्रमा का उत्तम योग था। सुव्रत नामक दिन का चतुर्थ प्रहर था। उस समय विजय मुहूर्त्त भी भगवान महावीर की अपने मोह-कर्म पर पूर्ण विजय की घोपणा कर रहा था। भगवान अपने 'स्व' मे लीन गोदुहासन मे बैठे हुए थे। वे आनन्दाब्धि मे तैर रहे थे। कर्म, विक्षेप और आवरण सब हट चुके थे। केवल-ज्ञान स्वरूप एक आत्मा का ही अस्तित्व रह गया।

उन्होने अपनी आत्मा को अनन्त प्रकाश के पुञ्ज के रूप मे अनुभव किया। चराचर जगत् को अपने अनन्त 'स्व' के विमल दर्पण मे प्रतिबिम्बित होते हुए देखा। साढे बारह वर्ष तक जीवन की अनेक विकट घाटियां पार करने के बाद महावीर केवल-ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुच गये। केवल-ज्ञान होने के बाद जीव को अपने कल्याण का एक प्रकार से प्रमाण-पत्र ही उपलब्ध हो जाता है, क्योकि केवल-ज्ञानी का सिद्धत्व निश्चित होता है। घट के फूटने पर जैसे घटाकाश, मठाकाश मे समा जाता है, ऐसे ही पाञ्चभौतिक शरीर के छूटते ही जीव सिद्ध ज्योति मे जा कर ज्योति-स्वरूप हो जाता है।

सामान्य केवली और तीर्थङ्कर केवल-ज्ञान की दृष्टि से समान होते है, किन्तु सामान्य केवली के केवल-ज्ञान को कल्याणक नही कहा जा

जाना, क्योंकि वे केवल-ज्ञान की उपलब्धि का प्रयोग करने में स्वतन्त्र होते हैं। वह समाधिस्थ रह कर मौन रूप से आयुष्य को पूर्ण करे या लोक-कल्याण के लिये प्रवृत्ति करे, यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है, किन्तु तीर्थङ्कर ऐसा नही कर सकता। वह केवल-ज्ञान के बाद अभाषक तथा मौन नही रहता। वह जब केवल-ज्ञान मे प्रकृति के विराट् तत्त्वो की अनुभूति करता है तब विश्व के हित, मंगल तथा कल्याण के लिये उनका प्रचार एव प्रसार भी करता है। लोक-हित के लिये वह तीर्थ का प्रवर्त्तन करता है। तीर्थ के प्रवर्त्तन के बाद ही वह वस्तुत तीर्थङ्कर के रूप मे हमारे सामने आता है। प्रत्येक तीर्थङ्कर पहले अरिहन्त बनता है और फिर तीर्थङ्कर। तीर्थङ्कर नाम-कर्म के उदय से तो द्रव्यतः तीर्थङ्कर कहा जाता है, किन्तु तीर्थ की स्थापना करने पर ही महापुरुष वास्तविक तीर्थङ्कर कहलाते है।

प्रत्येक तीर्थङ्कर अरिहन्त होता है, किन्तु प्रत्येक अरिहन्त तीर्थङ्कर नही होता। तीर्थङ्करत्व का मोक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नही है।

अरिहन्त का अर्थ सक्षेप मे ज़रा समझ लेना चाहिये। अरिहन्त के तीन भाव हैं। प्रथम है :—

१. अरेर्हननादरिहन्ता—अर्थात् जो मोह आदि शत्रुओ का हनन करता है, वह अरिहन्त होता है।

२ रजोहननादरिहन्ता—जो कर्मरज को दूर कर देता है वह अरिहन्त है।

३. रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता—जो अन्तराय कर्म को दूर करता है वह अरिहन्त है। ऐसा अरिहन्तत्व ही तीर्थङ्कर को मोक्ष तक पहुचाता है। यदि तीर्थङ्करत्व मे मोक्ष देने की शक्ति होती तो फिर तीर्थङ्कर के रूप मे जन्म लेते ही उन्हे केवल-ज्ञान हो जाता, किन्तु ऐसा नही होता। तीर्थङ्कर को साधना से सर्वप्रथम अरिहन्त-पद तक पहुंचना पडता है और तभी उसका तीर्थङ्करत्व सार्थक होता है। जैसे प्रत्येक आचार्य और उपाध्याय साधु होता है, किन्तु प्रत्येक साधु आचार्य व उपाध्याय नही होता। आत्म-कल्याण के लिये आचार्य व उपाध्याय होना कोई आवश्यक नही है, क्योंकि ये सब पदवियां और उपाधियां है। सामाजिक धरातल पर

इनका अवश्य कुछ महत्त्व रहता है, किन्तु आत्मा के विकास के साथ इनका दूर का भी कोई सम्बन्ध नही है। आत्मा का विकास तो साधुत्व के क्रमश: विकास से होता है। साधुत्व का क्रमश: विकास ही गुण-स्थानो का आरोहण करता हुआ तेरहवे गुण-स्थान मे पहुचे कर वीतरागता का रूप ले लेता है। वीतराग होने के लिये तीर्थङ्कर होना कोई आवश्यक नही है किन्तु तीर्थङ्कर अवश्य ही वीतराग होता है। यह शाश्वत नियम है। वीतराग के होने के बाद ही तीर्थङ्कर तीर्थ की स्थापना करते हैं।

तीर्थङ्कर और अवतार में अन्तर

सनातन-धर्म के अवतार और जैन-धर्म के तीर्थङ्कर के अवतरण तथा अविर्भाव का एक ही उद्देश्य रहता है, वह है जन-मानस मे धर्म की सस्थापना। जैसे कि गीता मे कहा है —

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

उपर्युक्त श्लोकद्वय का भावार्थ पद्य मे कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया है :—

> **जब जब होइ धर्म की हानी, बाढहि असुर महा अभिमानी।**
> **तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा, हरहिं सकल सुजन जन पीरा।**

इस धरती पर सनातन-धर्म की दृष्टि से भगवान के अवतार लेने का जो प्रयोजन होता है वही उद्देश्य जैन-धर्म के तीर्थङ्कर के जन्म लेने का है, किन्तु दोनो मे कुछ मौलिक भेद होता है, उद्देश्य की सिद्धि मे और कार्य करने की पद्धति मे।

सनातन-धर्म मे भगवान स्वयं मानव के रूप मे अवतार लेता है, जबकि जैन-धर्म का तीर्थङ्कर एक विशिष्ट मानव ही होता है वह अपनी साधना से भगवत्ता को प्राप्त करता है।

सनातन-धर्म मे भगवान का अवतार जब यह देखता है कि उपदेश और नम्रता से दुष्ट अपनी दुष्टता से बाज नही आता तो फिर वह सहार का मार्ग अपनाता है। वह इस धरती को आसुरी प्रभाव से मुक्त

करने के लिये दुष्टों का संहार करता है, किन्तु जैन-धर्म का तीर्थङ्कर वीतराग होने से ऐसा नही करता।

सनातन-धर्म का अवतार अपनी शरण में आनेवाले के लिये उसके कल्याण और मुक्ति का दावा करता है, किन्तु जैन-धर्म का तीर्थङ्कर किसी को कल्याण और मुक्ति की गारन्टी नही देता। वह किसी के कर्मो का भार अपने सिर पर नही लेता। वह तो सहज-रूप मे अहिंसा और सत्य का उपदेश देता है। वह व्यक्त को मिथ्या-दृष्टि और असत् सस्कारो को वदलने का प्रयत्न करता है। वह अपने उद्देश्य मे सफल होता है या असफल इस ओर वह ध्यान नही देता, क्योकि किसी के उपदेश को ग्रहण करना या न करना यह व्यक्ति की अपनी पात्रता व अपात्रता पर निर्भर करता है। जिसका जैसा उपादान होता है उसमे वैसी ही परिणति होती है। तीर्थङ्कर कही भी वल और शक्ति का प्रयोग नही करते। सहार का आचरण तो क्या वे कभी इसका अनुमोदन भी नही करते। जैन-तीर्थङ्करो का यह दृढ विश्वास है कि सहार से प्राणी का कभी उद्धार नही होता और यह पृथ्वी भी पाप से कभी शून्य नही होती,क्योकि पाप के सस्कारो को साथ लेकर मरनेवाले प्राणी फिर नया शरीर लेकर इस धरती पर ही आ जाते हैं। इस तरह सस्कार रूपी वीज के नष्ट न होने से पापो की परम्परा सदैव वनी रहती है।

तीर्थङ्कर सदैव अहिंसा और सत्य के माध्यम से ही लोक-मानस मे धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। वीतराग होने के वाद लोक-हित की भावना मे प्रेरित होकर वे धर्म-देशना देते है। वे विश्व का निर्माण करने के लिये पहले अपना निर्माण करते है। जो अपना निर्माण किये विना ही दूसरो का उद्धार करने जाते हैं, वे अपने उद्देश्य में सफल तो होते ही नही, वल्कि वे निन्दा और उपहास के पात्र वनते है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना ही सुधार कर ले तो जगत का उद्धार क्षणो मे हो जाये। शायद इसी लिए किसी ने कहा है — "If every man hooks his on reformation then how very easy to reform a nation?" तीर्थङ्कर स्व-निर्माण के वाद ही परोपदेश मे प्रवृत्ति करते हैं।

तीर्थङ्कर का कार्य :

केवल-ज्ञान को उपलब्धि के वाद तीर्थङ्कर के लिये कुछ और

उपलब्ध करना शेष नही होता। वे केवल अपनी उपलब्धि से ससार को लाभान्वित करने के लिये ही वाणी बोलते हैं। वाणी जीवन की एक महती शक्ति है। आत्मा और प्रकृति के रहस्योद्घाटन वाणी के द्वारा ही होते हैं। आत्मा द्वारा अनुभूत सत्य वाणी के द्वारा ही जन-मानस तक पहुंचता है। केवल-ज्ञान वाणी के द्वारा ही श्रुतज्ञान का रूप लेता है। विश्व के लिये श्रुत-ज्ञान ही उपयोगी होता है। हेय, ज्ञेय और उपादेय का परिज्ञान श्रुत-ज्ञान से ही होता है। जीव को इन्द्रियो की उपलब्धि मे श्रुतेन्द्रिय सब से बाद प्राप्त होती है। श्रुत का विषय शब्द है। वाणी भी शब्द रूपा है। शब्द ही श्रुत और वाणी के मिलन का माध्यम है। शब्द ही ब्रह्म को व्यक्त करता है। सनातन-धर्म मे इसीलिये शब्द को ब्रह्म कहा गया है। शब्द के बिना आत्मा मूक है। जैन-धर्म ने इसे अभापक कहा है, अभाषक का ज्ञान उत्कृष्ट होने पर भी ससार के लिये अनुपयोगी होता है। जैसे सिद्ध भगवान का ज्ञान अनन्त होने पर भी लौकिक दृष्टि से कार्यकारी एव उप-कारी नही है, क्योकि सिद्ध अभाषक होते हैं। अरिहन्त सशरीरी होने से भाषक होते हैं। उनका ज्ञान वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित होकर ससार के लिये उद्बोधक तथा प्रेरक बन जाता है। तीर्थङ्कर सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होते हैं। उनके वचन सत्य तथा यथार्थ होते हैं, इसलिये उनके वाणी-प्रवाह को प्रवचन कहा जाता है। प्रकृष्ट वचन ही प्रवचन होता है। छद्मस्थ अर्थात् जिसमे अभी मानसिक विकार शेष है उनके भाषण को प्रवचन नही कहा जा सकता। यदि वे सर्वज्ञ की वाणी को आधार मानकर निःशक भाव से तत्त्वो का प्रतिपादन करे तो उसे भी प्रवचन कहा जा सकता है, तीर्थङ्कर की वाणी को इसीलिये निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा जाता है, क्योकि उसमे रागद्वेष और पक्षपात नही होता। केवल विश्व-हित की भावना निहित रहती है। तीर्थङ्करो के वचन असाम्प्र-दायिक तथा सार्वभौम होते है। उनकी दृष्टि मे ऊच-नीच तथा छोटे-बडे का भेद-भाव नही होता। सूर्य अर्घ्य चढानेवाले और अपने ऊपर धूल फेंकनेवाले को समान रूप से ही अपनी शक्तियो से लाभान्वित करता है। ठीक इसी तरह तीर्थङ्कर निन्दक और प्रशसक को समान दृष्टि से अपनी धर्म-वाणी से कृतार्थ करते हैं। इस सम्बन्ध मे शास्त्र

मे कहा है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

अर्थात् जो उपदेश वे एक राजा या रानी को देते है वही शिक्षा वे एक दास और दासी को भी देते है, क्योंकि धर्म-प्रवृत्ति का अधिकार सबको होता है। जो उद्बोध वचन वे एक भद्र पुरुष को सुनाते है वही ज्ञान-सूक्त वे अभद्र के प्रति भी कहते हैं ताकि वह अभद्र से भद्र हो जाए।

तीर्थङ्कर प्रेम करुणा और वात्सल्य की भावना से प्रेरित होकर अत्यन्त मिष्ट, शान्त प्रिय, संयमित गम्भीर, परिमित निर्भीक, सुस्पष्ट, सन्तुलित, देश-कालानुसार, निष्पक्ष, दुरितहारी तथा सत्य एव यथार्थ वचन ही बोलते हैं।

समवसरण :

वे जिस धर्म-सभा मे प्रवचन देते है उसे समवसरण कहा जाता है। जहां श्रोता लोग वैर-भाव को छोड़ कर समभाव से धर्मोपदेश सुनते हैं और जिस स्थान से धर्म का व्याख्यान किया जाता है, उसे समवसरण कहा जाता है।

यह समवसरण देव-निर्मित होता है। यह एक योजन लम्बा चौड़ा रहता है, क्योकि तीर्थङ्कर की वाणी एक योजन तक सुनाई देती है। उनकी वाणी की यह विशेषता है कि उसे प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेता है। तीर्थङ्कर देव एक ऊंचे सिंहासन पर अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर सारे जगत के त्रिताप रूप शोक को दूर करने के लिये अपनी वाणी का प्रसार करते है।

भगवान महावीर की प्रथम देशना :

भगवान महावीर ने वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपनी प्रथम धर्म-देशना दी, किन्तु भगवान महावीर की यह देशना निष्फल चली गई। कहा जाता है कि भगवान महावीर की इस सभा मे कोई मानव नहीं था। परन्तु यह बात कुछ अटपटी सी मालूम पड़ती है। जब सनातन जगत् मे भगवान कृष्ण की मुरली के माधुर्य एव आकर्षण के सम्बन्ध

मे कहा जाता है कि गोपियां और गौए दूर-दूर से भी कृष्ण की बासुरी की तान सुन कर भागी आती थी। तब भगवान महावीर की वाणी का माधुर्य एक योजन तक बिखर रहा हो और कोई भी मानव उससे आकर्षित होकर समवसरण मे न पहुचे, ऐसा सोचना भगवान की वाणी को हीन कहना है। मैं ऐसा समझता हूं कि भगवान के समवसरण मे मानव तो बहुत थे, किन्तु मानव का हृदय रखनेवाला और भगवान की वाणी को धारण करने मे सक्षम जन-मानस वहा शायद कोई नही था। जब उत्तम पदार्थ को पात्र ग्रहण नही कर पाता तो उसमे पदार्थ का दोष नही होता, बल्कि पात्र की अपनी अयोग्यता होती है। जिस धर्म-सभा मे कोई मानव नही उसमे धर्मोपदेश देने से तीर्थङ्कर का उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता। तीर्थङ्कर 'तीर्थ' की स्थापना करने के लिये ही प्रवचन देते हैं, क्योकि तीर्थ के द्वारा ही वे ससार मे धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं। तीर्थ की स्थापना मानव-मात्र के कल्याण के लिये होती है और वह मानव जाति के बल पर ही की जाती है। वहां पशु और देव की अपेक्षा नही होती। सामान्य दृष्टि से पशु चरित्र का अधिकारी नही, किन्तु अपवाद दशा मे कही-कही वह भी भाव-जगत मे व्रती बन सकता है। देवता तो सदैव अव्रती ही रहते हैं, इसलिये भगवान के समवसरण मे उनके आने से और तीर्थङ्कर की देशना सुनने से तीर्थ-स्थापना का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नही होता, किन्तु यहा यह भी कहा जा सकता है कि तीर्थङ्कर के उपदेश को धारण करने मे अक्षम मानव-सभा मे भी उपदेश देने से तीर्थङ्कर का क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? कुछ भी नही।

परन्तु तीर्थङ्कर सर्वज्ञ होने से यह जानता है कि मेरी देशना से किसी को भी प्रतिबोध होनेवाला नही है, फिर भला वे क्यो देशना देते है ? इस प्रश्न के उत्तर मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तीर्थङ्कर सब कुछ जानते हुए भी लोक-मर्यादा का उल्लघन कदापि नही करते। व्यावहारिकता का वे पूर्ण परिपालन करते है। अपने पास आए हुए जन-समाज को वे यह कदापि नही कहते—चलो! भागो! यहा से। तुम मे से किसी को भी प्रतिबोध होनेवाला नही है। मैं व्यर्थ ही अपना समय नष्ट करना नही चाहता। तीर्थङ्कर यथार्थ द्रष्टा होने पर भी किसी को कठोर तथा अशिष्ट वचन नही कहते। सर्वज्ञ को दूसरे की स्थिति

का ज्ञान पहले ही हो जाता है, किन्तु अल्पज्ञ को अपनी वास्तविक शक्ति व स्थिति का बोध कार्य के पश्चात् होता है। तीर्थङ्कर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अनुभूति के द्वारा ही अपनी शक्ति, योग्यता तथा स्थिति को समझने का अवसर देते हैं। तीर्थङ्कर अपने समवसरण मे यह सदैव जानते है कि कौन प्रतिबुद्ध होगा और कौन नही, किन्तु फिर भी वे एक-एक को चुन-चुन कर ज्ञान के घूट नही पिलाते, बल्कि वे सहज भाव मे सबको अपनी ज्ञान-गगा का पीयूप पिलाते हैं। भाग्यवान पी जाते है और पुण्यहीन वमन कर देते है। तीर्थङ्कर अपने ज्ञान के मोती समान भाव से बिखेरते जाते हैं। राजहस तो मोती चुग लेते हैं और दूसरे पक्षी व्यर्थ ही चोच रगड-रगड कर उड जाते है। कहना होगा कि भगवान महावीर की प्रथम धर्म-देशना के ज्ञान-मुक्ता चुगने के लिये भगवान के समवसरण रूपी सरोवर मे कोई राजहस नही पहुचा। देवो और पशुओ के लिये वे किसी काम के नही थे। इसलिये तीर्थङ्कर महावीर की प्रथम देशना अकार्थ चली गई। जैन-जगत् मे इसे दस आश्चर्यो मे एक माना जाता है।

वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन भगवान महावीर ने मध्यमा पावा की ओर विहार किया। यहां वे महासेन नामक उद्यान मे ठहरे। उनके शुभागमन की सुखद सूचना विद्युत-लहरी की तरह सारी नगरी मे फैल गई। बाल-युवा व वृद्ध सभी नर-नारी भगवान की अमृत वाणी का पान करने के लिये सागर की तरह उमड पड़े। भगवान महावीर ने लोकहितार्थ परम सत्य का प्रतिपादन किया। उन्होने फरमाया कि—

चौरासी लाख जीव योनियो मे कर्मो के अनुसार भ्रमण करते हुए अत्यन्त पुण्योदय से मानवता की उपलब्धि होती है। क्योकि मनुष्य इस धरती का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, वही ज्ञान के प्रकाश मे उत्तम कर्म करता है और अज्ञानावस्था मे अधर्माचरण करके अधम गति मे चला जाता है। स्वर्ग की सत्ता मनुष्य की पुण्य-साधना पर खड़ी है। पशु और नरक मनुष्य के नीच कर्मो का ही दुखद परिणाम है। मनुष्य के अपने जीवन मे भी जो दुख-सुख रोग-शोक, सयोग-वियोग तथा मान-अपमान देखा जाता है वह भी मनुष्य के कर्मो का ही प्रतिफल है। मनुष्य को सत्यासत्य का आवश्यक विवेक होना चाहिये। तभी वह अपने तथा अन्य के जीवन का कुछ हित कर सकता है।

ज्ञान और दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे बोलते हुए उन्होने जीव, अजीव पुण्य, पाप आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विशद विवेचन किया।

लोक का स्वरूप समझाते हुए जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, का विस्तृत प्रतिपादन किया। ज्ञान और दर्शन से जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और चारित्र से 'स्व' तत्व की उपलब्धि होती है। ज्ञान के बाद ही वस्तु की सप्राप्ति की इच्छा जागती है, अतः ज्ञान एव दर्शन के बाद जीवन मे चारित्र का उदय होता है। समाज मे स्वस्थ, सुखी तथा श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिये भी चारित्र अपेक्षित है और इस जीवन के उपरान्त सद्गति और मुक्ति प्राप्त करने के लिये भी चारित्र परमावश्यक है।

जो साधक चारित्र को धारण करता है। वह श्रमण अर्थात् साधु कहा जाता है और इस चारित्र की साधिका-स्त्री श्रमणी अर्थात् साध्वी कहलाती है।

जो साधक ससार की चीजो का मोह नही छोड़ सकते, जो अपनी इन्द्रियों और मन पर पूर्ण नियन्त्रण नही रख सकते, जिनके हृदय मे अभी पूर्ण वैराग्य नही उत्पन्न हुआ, जो त्याग-मार्ग पर चलने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं, उन्हे देश-व्रती चारित्र का आराधन करना चाहिये। यह चारित्र बारह व्रतो पर आधारित है। वे बारह व्रत हैं—स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत, स्थूल-मृषावाद-विरमण व्रत, स्थूल-अदत्तादान-विरमण व्रत, स्वदार-सतोष-व्रत और इच्छा-परिमाण व्रत। ये पाच अणुव्रत हैं। इन अणुव्रतो के अतिरिक्त सात और व्रत है। जिन्हे गुण-व्रत और शिक्षा-व्रत कहते हैं। गुण-व्रत तीन हैं और शिक्षा व्रत चार हैं। गुण-व्रत हैं—दिशा परिमाण-वत, भोग-उपभोग-परिमाण-व्रत और अनर्थदण्ड विरमण-व्रत सामायिक-व्रत, देशावकाशिक-व्रत, पौषधव्रत और अतिथि-सविभाग-व्रत ये शिक्षा-व्रत कहे जाते है। जो गृहस्थ इन सम्पूर्ण व्रतो या इनमे से कुछ व्रतो को ग्रहण करता है उसे देश चारित्री श्रावक या श्रमणोपासक कहा जाता है। जो केवल केवली प्ररूपित धर्म पर विश्वास करता है और गुरु के सच्चे स्वरूप को समझ कर उन पर आस्था रखता है उसे दर्शनी श्रावक कहा जाता है। इसी प्रकार इन व्रतो की आराधिका स्त्री श्रमणोपासिका कहलाती है।

यह बात सत्य है कि प्रकृति ने पुरुष और नारी को अलग-अलग शक्तिया प्रदान की है, सामाजिक जीवन मे उनके कर्त्तव्यों मे अवश्य भेद रहता है, किन्तु पुरुष की आत्मा और स्त्री की आत्मा मे कोई भेद नही है। दोनो के जन्म लेने, कर्म करने और कर्मों का फल भोगने के माध्यमो तथा विधियो में कोई अन्तर नही, इसलिये दोनो का आत्म-धर्म एक ही है। दोनो को मोक्ष-प्राप्त करने का समान अधिकार है।

तीर्थङ्करो ने पुरुष और नारी के धार्मिक अधिकारो मे कभी भेद नही माना। तीर्थङ्कर जाति-पाति को भी स्वीकार नही करते। किसी भी जाति का व्यक्ति इस निर्ग्रन्थ-धर्म को ग्रहण कर के अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

भगवान की उपदेश गगा इस प्रकार अबाध-गति से प्रवाहित हो रही थी, जन-मानस मे आलोक की किरणे फैल रही थी, मिथ्यात्व का अन्धकार फट रहा था, लोग मस्त होकर अमृत का पान कर रहे थे। उन्हे ऐसा लग रहा था जैसे कि पहली ही वार उन्हे यह दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ हो। भूले-भटके लोगो को जीवन की नयी राहे मिल रही थी। भगवान की ओजस्विनी-वाणी से बहुत से लोगो का मोह भग हो गया और वे साधु-जीवन के लिये तत्पर हो गये। अपनी शक्ति-योग्यता तथा परिस्थिति पर वे गम्भीर चिन्तन करने लगे। बहुत से भावुक स्त्री-हृदय भी सयम के लिये मचलने लगे। अपने आप को सयम जीवन की कठोर आराधना मे असमथ पाते हुए बहुत से अन्य जन भगवान के श्रमणोपासक व श्रमणोपासिकाए बनने के लिये तैयार हो गये। समवसरण मे प्रत्येक स्त्री-पुरुष के अन्तरङ्ग में एक आध्यात्मिक उत्क्रान्ति चल रही थी। इतने मे सहसा ही भगवान की धर्म-सभा मे एक नया ही दृश्य उपस्थित हो गया।

गणधरों का आगमन :

'मध्यमा-पावा' नामक नगरी मे सोमिल ब्राह्मण एक महायज्ञ कर रहा था। सारे पूर्वी भारत मे उस यज्ञ की खूब धूम मची हुई थी। उस यज्ञ मे वैदिक-धर्म के बडे-बडे धुरन्धर विद्वान् उपस्थित थे। उनकी चार हजार चार सौ शिष्य-सम्पदा भी उनके साथ थी। सोमिल की

यज्ञ-शाला मे जनता का एक सागर ही उमड रहा था। अपने-अपने अभीष्ट की सिद्धि मे सब लोग आशावान होकर बैठे थे। सहसा उन्हो ने देखा कि लोग महासेन उद्यान की ओर बड़ी उत्सुकता से चले जा रहे है। यज्ञ-मण्डप के हजारो लोग भी उठ-उठ कर चलने लगे। देखते ही देखते यज्ञ-मण्डप खाली हो गया। भगवान महावीर के समवसरण मे जनता का एक महासागर ठाठे मारने लगा। भगवान तीर्थ अर्थात् सघ की स्थापना कही भी कर सकते थे, किन्तु वे मध्यमा पावा मे अपने साथ एक महान उद्देश्य लेकर ही उपस्थित हुए थे। मध्यमा-पावा उस समय वैदिक धर्म का एक बहुत बडा केन्द्र था। ग्यारह दिग्गज विद्वानो के नेतृत्व मे उस समय एक महान् यज्ञीय अनुष्ठान भी हो रहा था। उस यज्ञ की छटा निहारने के लिये यज्ञ-मण्डप के आञ्चल मे दूर-दूर से लोग आकर आसन जमाए बैठे थे। ऐसे दुर्लभ अवसर को महावीर अपने हाथ से नही जाने देना चाहते थे। वे जान बूझ कर मध्यमा पावा की ओर बढे। महावीर वेदो के और वैदिक-जगत के ही नही, बल्कि उस समय धर्म के नाम पर प्रचलित घोर हिंसा के प्रबल विरोधी थे। यज्ञो के नाम पर भारत के पावन प्राङ्गण मे हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था। महावीर भारत के पवित्र ललाट से हिंसा के इस कलक को धो देना चाहते थे। धर्म के नाम पर चल रही गलत रूढियो तथा पाखण्डो का अन्त कर देने के लिये वे कटिबद्ध थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होने सब से पहले मध्यमा-पावा को ही चुना, क्योकि उनके केवल-ज्ञान के दर्पण मे मध्यमा नगरी में प्राप्त होनेवाली सफलता पहले से ही झलक रही थी। उन्होने देख लिया था कि सोमिल के यज्ञ-मण्डप पर विजय पाना—हिंसा पर अहिंसा की एक महान विजय होगी। इस से भारत देश मे अहिंसा के प्रचार के द्वार खुल जायेंगे। महावीर कोई विजय की भावना लेकर मध्यमा में नहीं आए थे, वे ख्याति के भी भूखे न थे। वे आए थे जन-मानस को तथा जन-नेताओ को आत्मा के विराट सत्य का परिबोध देने के लिये।

सोमिल की यज्ञ-शाला एक-दम सूनी हो गई। पण्डित वर्ग आश्चर्य म डूब गया। भगवान महावीर के तेज और प्रभाव को देख कर वे चित्र लिखित से रह गये। सोमिल के यज्ञ की तो वे अनुपम

शोभा ही थे, किन्तु महावीर के समवसरण की शोभा ने उनकी शोभा को क्षीण कर दिया।

कहा जाता है कि इन्द्रभूति महावीर को पराभूत करने तथा उन्हें नीचा दिखाने के लिये ही उनके समवसरण में गये थे, किन्तु मैं इससे सहमत नही हू। मैं ऐसा मानता हू कि भगवान महावीर के तपस्तेज और अध्यात्म-तेज के प्रखर प्रताप को देख कर इन्द्रभूति का अहकार पहले ही विगलित हो गया था, उनके मन में महावीर के प्रति एक सहज भक्ति जागृत हो गई थी। अनेक जन्मो का प्रसुप्त स्नेह सहसा उनके मानस मे गगा के निर्मल प्रवाह की तरह उमड पड़ा था। किसी विराट् सत्य की उपलब्धि के लिये वे ही वहा आए थे। यदि इन्द्रभूति के हृदय मे अहकार और अभिमान भरा होता, यदि वे विजय की अभिलाषा एव महावीर को पराभूत करने का सकल्प अपने मन में समाये हुए वहा आते तो वे अपनी शका के प्रति दिये हुए महावीर के समाधानो को वे एकदम ठुकरा देते, झुठला देते।

इन्द्रभूति को अपने सामने आए हुए देखकर भगवान ने कहा—"इन्द्रभूति! क्या तुम्हारे मन मे जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सशय है?"

भगवान महावीर ने जब इन्द्रभूति गौतम के मन के सशय का उद्घाटन किया तो गौतम ने उसे सहज भाव से स्वीकार कर लिया और महावीर की सर्वज्ञता के आगे मस्तक झुका दिया। जिसके मन मे छल और अहकार हो वह इस प्रकार लाखो लोगो के सामने अपनी दुर्बलता को स्वीकार नही कर सकता। इससे सिद्ध होता है कि गौतम अपने अहकार का परिधान उतार कर ही भगवान के समवसरण में आए थे।

इसी प्रकार अग्निभूति, वायुभूति तथा अन्य पण्डितगण भी भगवान महावीर के समवसरण मे श्रद्धा और प्रेम से आप्लावित हृदय लेकर पहुचे। उनके मन भी भिन्न-भिन्न प्रकार की शकाओ से आवृत थे। जैसे।क—

"अग्निभूति को यह सन्देह था कि कर्म का फल होता है या

नही ?" वायुभूति यह निर्णय नही कर पा रहे थे कि "शरीर और जीव भिन्न-भिन्न है या एक ही है ?" **व्यक्त स्वामी** यह मानते थे कि "ब्रह्म ही सत्य है शेप सब मिथ्या है।" **श्री सुधर्मा स्वामी** की यह धारणा बनी हुई थी कि 'प्रत्येक प्राणी अपनी ही योनि मे उत्पन्न होता है, अर्थात् योनि-परिवर्तन नही होता। **मण्डित** जी यह मानते थे कि 'आत्मा एक अमूर्त्त तत्त्व है, उससे कर्म जैसे मूर्त्त द्रव्य का वन्ध नही हो सकता, जब वन्ध ही नही तो फिर उससे मुक्त होने का तो कोई प्रश्न ही नही है। **मौर्यपुत्र** जी का यह विश्वास वन गया था कि सुख का अस्तित्व इसी धरातल पर है, उसका अस्तित्व इस ससार से परे अन्यत्र कही नही है। **अकम्पित** जी भी इसी तरह दु ख, शोक, अशान्ति, रोग तथा दरिद्रता के रूप मे नरक इसी लोक मे ही मानते थे। **अचलभ्राता** जी भी पुण्य-पाप के सम्वन्ध मे सदा विचलित रहते थे। **मेतार्य स्वामी** पुनर्जन्म के विषय मे सशय ग्रस्त थे और **प्रभास स्वामी** का हृदय मोक्ष के सम्वन्ध मे सदैव चलायमान रहता था। सभी को भगवान के धर्म-दरबार मे अपनी शकाओ तथा भ्रान्तियो के युक्तियुक्त समाधान उपलब्ध हुए और वे सभी एक मत होकर अत्यन्त श्रद्धामय तथा विनीत हृदय से भगवान के निर्ग्रन्थ धर्म मे दीक्षित हो गये।

उनके मन मे उपर्युक्त शकाए थी या नही। वे एक-एक करके भगवान के समवसरण मे गये या एकत्र होकर, यह तो चाहे निश्चित न हो, किन्तु एक वात सुनिश्चित है कि वे महावीर को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ कर उससे टक्कर लेने की भावना से और इन्द्रभूति जी को मुक्त कराने के सकल्प से वहां नही गये थे। वे सब महावीर के समवसरण मे केवल ज्ञान के मोती चुगने के लिये ही पहुचे थे और भगवान के चरण-भ्रमर वन कर उन्ही के हो गए थे।

समवसरण मे उपस्थित अनेक बहिनो व भाइयो ने साधु तथा श्रावक धर्म को ग्रहण किया। भगवान महावीर की यह धर्म-परिषद सफलता से अलकृत हो गई। धर्म-चक्र का प्रवर्तन करने के लिये तीर्थङ्कर महावीर ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। वह वैशाख शुक्ला एकादशी का दिन सघ-स्थापना के रूप मे अमर हो गया।

भगवान महावीर ने इन ग्यारह धर्म-आचार्यो को आचार्य पद पर

ही सुरक्षित रखा। जैन ससार में ये ग्यारह गणधरो के नाम से प्रसिद्ध है।

भगवान महावीर ने अपने सघ को 'तीर्थ' की सज्ञा दी। यह सज्ञा बडी ही महत्त्वपूर्ण है। एक ही विचार-सरणि के व्यक्तियो के समूह को सघ कहते है। सघ के पर्यायवाची और भी बहुत से शब्द है, किन्तु तीर्थङ्कर भगवान साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका के सघ को तीर्थ कहते है। यह नाम बड़ा ही पावन एव महत्तम रहस्य से परिपूर्ण है।

ससार मे ऐहिक स्वार्थो की सिद्धि तथा अन्य लोगो से सघर्ष कर के अपने अधिकारो को प्राप्त करने लिये अनेक प्रकार के सघो व दलो आदि का निर्माण होता रहता है। वे सब सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होने से लौकिक कहे जाते है, किन्तु तीर्थङ्कर देव जिस धर्म-संघ की स्थापना करते हैं, वह लोकोत्तर होता है। वह आत्म-शुद्धि की साधना के लिये बनाया जाता है। उसमे ज्ञान, दर्शन और चरित्र की प्रधानता रहती है। यह सघ ससार से स्वय तरने और दूसरो को तारने के लिये होता है। इसलिये इसे 'तीर्थ' कहा जाता है, क्योंकि जिस के द्वारा तरा जाये उसे ही तीर्थ कहते हैं।

द्रव्य और भाव की दृष्टि से तीर्थ दो प्रकार के होते है। जिन भूमि-खण्डो का सम्बन्ध महापुरुषो के जन्म, दीक्षा, साधना, ज्ञान तथा परिनिर्वाण आदि मे जुड़ जाता है, वे स्थान भी 'तीर्थ' कहे जाते है, जैसे कि हस्तिनापुर, केसरिया नाथ जी, महावीर जी, राणकपुर पावापुरी, राजगृह, सम्मेद शिखर पालीताणा, शत्रुञ्जय, गिरिनार, गोमटेश्वर श्रमणबेलगोला, अयोध्या, वाराणसी, तथा उदयगिरि; आदि, ये सब बाह्य तीर्थ हैं। जब मन मे आत्मा का सच्चा विश्वास तथा जीवन मे सच्चरित्र की ज्योति लेकर इन तीर्थो की यात्रा की जाती है तो फिर ये भूमि-खण्ड अवश्य ही तीर्थ बन जाते है।

सनातन जगत के भी अपने अनेको तीर्थ हैं। रामेश्वरम्, बद्रीनारायण, पुरी तथा द्वारका आदि ये सनातनियों के प्रसिद्ध धर्म-धाम है और उनके अनेको तीर्थ स्थान और भी है, किन्तु भक्ति-भावना और शुद्ध हृदय से यात्रा करने पर ही ये जीवन के लिये उपयोगी तथा प्रेरक बनते हैं। तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य से व्यक्ति संसार के विषय-प्रपञ्चो से

कुछ समय के लिये निवृत्त हो जाता है। उसके मन को कुछ आत्म-शान्ति उपलब्ध होती है। इस निमित्त से वह दान आदि के द्वारा अनेको सुकृतो का उपार्जन कर लेता है। बहुत सी दुष्प्रवृत्तियो से बच जाता है। तीर्थ-स्थानों मे सन्त-दर्शन, प्रभु-स्मरण, धर्म-कथा श्रवण तथा भजन-पाठ के द्वारा चित्त की कुछ शुद्धि भी हो जाती है, किन्तु एक बात कभी भूलनी नही चाहिये कि यह लाभ तभी मिल सकता है यदि तीर्थ स्थानो का वातावरण सात्त्विक तथा पवित्र हो और व्यक्ति की ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति पूरी निष्ठा हो। बाह्य तीर्थ तो निमित्त मात्र हैं। जीवन का सच्चा तीर्थ तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना ही है। भाव के बिना द्रव्य किसी को कभी तार नही सकता। भूमि ने आज तक किसी को पवित्र नही बनाया, किन्तु आत्मा के सच्चे साधक अपनी सत्य-साधना से अपवित्र स्थान को भी पवित्र बना कर उसे तीर्थ बना देते हैं। इस ससार मे बाहर कहीं पवित्रता नही है। पवित्रता तो चारित्र का सौरभ है जो बाह्य जगत् मे बिखर कर उस के कण-कण को पवित्र कर देता है।

तीर्थङ्कर देवों ने वस्तुत. रत्नत्रय की साधना को ही तीर्थ कहा है। साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका रत्नत्रय की साधना करने से ही तीर्थ स्वरूप माने जाते हैं।

भगवान महावीर ने अपने अध्यात्म-सघ के बल पर भारत मे धर्म-चक्र का प्रवत्तन किया। आप ने अपने सघ को ग्यारह भागो मे विभक्त किया। प्रत्येक भाग को गण की संज्ञा दी और गण के प्रमुख को 'गण-धर' पद से विभूषित किया। भगवान ने समवसरण में तथा शरण मे आनेवाले प्रथम ग्यारह पण्डितो को ही गणधर बनाया गया था।

साध्वी-संघ

देवी चन्दना ने भी भगवान के चरणो में सब से पहले दीक्षा ग्रहण की। भगवान ने उसे साध्वी सघ का नेतृत्व प्रदान किया। इस तरह भगवान महावीर ने देश भर मे धर्म की उत्क्रान्ति करने के लिये समता पर आधारित सर्वजन-हितकारी सार्वभौम सिद्धान्तो आध्यात्मिक तथा

नैतिक जीवन के उच्चतम आदर्शों का व्यापक अभियान प्रारम्भ कर दिया।

देवताओं की गुलामी से छुटकारा :

भगवान महावीर का युग गहन अन्धकार से युक्त था। महावीर उस अन्धकार के लिये सूर्य बनकर आए थे। सारा देश मिथ्यात्व के अथाह सागर मे डूबा हुआ था। मनुष्य अपनी आत्म-शक्ति को भूलकर स्वर्ग के देवी-देवताओ को मनाने मे लगा हुआ था। भोग को ही जीवन का चरम-लक्ष्य मान लिया गया था। मानव का यह विश्वास बना दिया गया था कि स्वर्ग के देवता ही स्त्री, पुत्र, धन, विजय तथा प्रतिष्ठा आदि सब कुछ देने मे समर्थ हैं, हिंसक यज्ञो के मूल मे मानव की यही कुत्सित एव भ्रान्त धारणा काम कर रही थी। सर्वत्र हिंसा का नगा नाच हो रहा था और दुख की बात यह है कि यह सब देवताओ के नाम पर हो रहा था जब कोई भी अपराध या भूल व्यक्ति की अपनी निर्बलता से होता है तो उसका प्रतिकार शीघ्र हो सकता है, किन्तु बुराई जब धर्म के नाम पर होने लगती है तब उसे हटाना बडा कठिन हो जाता है। महावीर के सामने विरोधो के कितने ही हिमालय खड़े थे। धर्म-गुरुओ, ब्राह्मणों, पण्डितो, पुरोहितो तथा पुजारियो ने भोली-भाली जनता को अन्ध-विश्वासो के पिंजरे मे बन्दी बना रखा था। बड़े-बड़े राजा, मन्त्री, सेनापति, राजकीय कर्मचारी तथा बड़े-बडे सेठ-साहूकार भी लौकिक एषणाओ के दास बने हुए मिथ्यात्व के चक्र में फसे हुए थे।

निम्न वर्ग का उत्थान :

उच्च-वर्ग निम्न-वर्ग का जीवन के किसी भी क्षेत्र मे विकास नही चाहता था, क्योंकि ऐसा होने से उनका दम्भ और पोल-पट्टी नही चल सकती थी। इसलिये ब्राह्मण वेद और ईश्वर के घर की चाबी सदैव अपनी जेब में ही डाल कर रखता था। ताकि उस घर मे कोई घुस कर वहा की वास्तविक स्थिति को जान न सके। यदि कोई साहस करके अत्याचारो के विरुद्ध जबान भी खोलता था तो उसे उत्पीडन का शिकार अथवा मरण का वरण करनेवाला बनना पड़ता था और उसे

नरक का भय दिखा कर चुप करा दिया जाता था। सामिष भोजन और सुरापान मानव के आहार के प्रधान अग वन गये थे। मानव के जीवन मे अपराध की वृत्तिया तो स्वभाव से ही होती हैं, केवल धर्म ही उसका नियन्त्रण करता है, किन्तु जब धर्म ही अपराधो की छूट दे देवे तो फिर व्यक्ति को पाप करने से भय, सकोच तथा लज्जा कैसे हो सकती है। धर्म के प्रति गलत दृष्टि ही समाज के अध.पतन का कारण वन रही थी। भगवान महावीर मानव की दृष्टि का मोतिया विन्द उतारने के लिये ही इस धरती पर ठीक समय पर उतरे थे। उन्होने बढते हुए पाप और पाखण्ड से लोहा लेने के लिये एक तीर्थ के रूप मे एक सुदृढ सगठन वना लिया था।

भगवान के सन्देश वाहक साधु-साध्वी भी प्राणो का मोह छोडकर सत्य का प्रचार करने के लिये निकल पडे। उस समय यातायात के महान साधन नही थे। कच्चे रास्ते और नदी नाले पद-यात्री साधको के पगो को गति रोक देते थे। कही साधु-जीवन की मर्यादाओ, नियमो तथा व्रतो का पालन करते हुए वे प्रचार के क्षेत्र मे आगे वढते थे, साधना के साथ-साथ प्रचार भी करते थे। सयम की परिधि मे रहते हुए वे यथाशक्ति जहां भी पहुंच सकते थे, पहुचते थे।

गण-तन्त्र के प्रमुख महाराज चेटक, मगधाधिपति राजा श्रेणिक चण्डप्रद्योतन और उदयन भी आप के भक्त वन गये थे। जैसे मूल को हाथ मे कर लेने पर उस वृक्ष का सर्वस्व अपने अधिकार मे आ जाता है। इसी प्रकार राजा का हृदय-परिवर्तन होने पर प्रजा का मन सहज मे ही बदल जाता है। भगवान महावीर ने इसी सुनीति का अनुसरण किया। इससे भगवान को अपने सिद्धान्तो के प्रचार मे वडी सहायता मिली। कुछ उदयन जैसे राजाओ ने भगवान के चरणो मे दीक्षा भी ग्रहण की, सयम के पथ पर चलकर भगवान के सिद्धान्तो का प्रचार भी किया।

भगवान महावीर का भ्रमण क्षेत्र अधिकतया विहार ही रहा। आपके पाचो कल्याणको का सम्बन्ध भी विहार से ही है।

भगवान महावीर ने अपने ज्ञान-केन्द्र से ज्ञान-रश्मिया प्रसारित करने के लिये अपने सन्देश वाहक भारत की चारो दिशाओ मे दूर-दूर तक भेजे। वे हिसा की श्यामल घटाओ से तूफान वनकर टक्कराए

और धीरे-धीरे हिंसा के काले वादल छटने लगे।

भगवान के सिद्धान्त युगानुकूल, सार्वभौम तथा विश्वोपयोगी थे। वे तर्क, युक्ति तथा सत्य पर आधारित थे। उस समय वेदो के उज्ज्वल सिद्धान्तो को स्वार्थी लोग तोड़-मरोड कर तथा उन्हे विकृत रूप देकर उपस्थित कर रहे थे और सव से अधिक दुख और आश्चर्य की वात यह थी कि ये घोर-पाप वेद और ईश्वर के नाम पर किया जा रहा था। भगवान ने जन-मन को अहिंसा का वेद-सम्मत अर्थ वताया। आप ने कहा कि हम वेदो के उन अर्थों को नही मानते जो ससार को उत्पीडन, यन्त्रणा और हिंसा का पाठ पढाते हे और हम ऐसे भगवान को भी नही मानते जो वेदो के रूप मे हिंसा की वाणी बोलता हो। हम उन वेदो को मानते हे जो ब्रह्म विद्या के आदि स्रोत हैं और उस भगवान को भी स्वीकार करते हैं जो नित्य, शाश्वत, वीतराग ज्ञानमय तथा आनन्द स्वरूप है। जो कि सिद्ध है, वुद्ध है और सर्वथा मुक्त है।

उन्होने जन-मन को देवो की दासता से मुक्त करते हुए कहा—

धम्मो मगलमुक्किट्ठं अहिंसा सजमो तवो।
देवावि तं नमंसति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म विश्व के सुख तथा मगल के लिये होता है, शास्त्र और भगवान मगलमय धर्म के सस्थापक तथा प्रेरक होते हैं। उसमे भगवान बनने के सशक्त उपाय है। यदि आत्मा अहिंसा सयम और तप की साधना करे तो देवता भी उसके दास वन सकते है। जो हमे ऐहिक जीवन के क्षणिक सुख के लिये देवी देवताओ का दास वना दे वह कैसा शास्त्र? वह कैसा धर्म? और वह कैसा भगवान!

भगवान महावीर के क्रान्तिकारी विचारो ने हिंसा जगत मे एक भूकम्प पैदा कर दिया, ब्राह्मणो और पुरोहितो के सिंहासन हिल उठे। महावीर के विचारो को दवाने के लिये उन्होने भगवान महावीर को वेद-विरोधी तथा अनीश्वरवादी कहना आरम्भ कर दिया, किन्तु महावीर इस प्रकार के अपशब्दो तथा अनर्गल आरोपो से तनिक भी विचलित नही हुए, उन्होने अपना अभियान शुरू रखा।

महावीर ने अपना तीसरा प्रहार ईश्वर के कर्तृत्व-वाद पर किया। उन्होने स्पष्ट कहा कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्र मे ईश्वर को ही सर्वेसर्वा

मान लेने पर व्यक्ति विल्कुल पगु वन जाता है। वह अपनी शक्तियो से अनभिज्ञ रह जाता है और उन शक्तियो का शोध व विकास नही कर पाता वह सदा दीन-हीन वना रहता है। सदा ईश्वर की कृपा पर जीने वाला गुलाम वन जाता है। व्यक्ति जव अपने कर्म का प्रेरक ईश्वर को मान लेता है तो फिर वह अपने आपको दोषो एव अपराधो को नही समझता ऐसी स्थिति मे वह अपने कृतदोष एव अपराध का परिमार्जन करने के लिये तप व प्रायश्चित्त नही करता, अपितु ईश्वर को कोसना शुरु कर देता है।

"जो करता है वह ईश्वर ही करता है" भगवान महावीर ने मनुष्य की इस धारणा को भ्रान्ति मूलक कहा। महावीर ने मानव को अपार कर्तृत्व-शक्ति की ओर सकेत करते हुए कहा कि जो कुछ भी करता है वह मनुष्य ही करता है। मनुष्य अपनी शुभाशुभ कर्म प्रकृतियो से प्रेरित होकर अच्छे-वुरे कर्म करता रहता है और समय-समय पर अपने कृत कर्मो का शुभाशुभ फल सुख-दुख के रूप मे भोगता रहता है। यह कर्म प्रकृति अनादि है और जीव के साथ इसका सम्वन्ध भी अनादि है। ईश्वर इसका न रचयिता है और जीव के साथ इसका सयोजना कर्ता भी नही है।

प्रकृति जड है। इसलिये वह जीव को वान्धने मे असमर्थ है और ईश्वर विना किसी के साथ प्रशस्त और किसी के साथ अप्रशस्त प्रकृति जोडकर किसी को नरक एव पशु योनि मे और किसी को मनुष्य और देव गति मे भेज नही सकता। क्योकि ऐसा करने से ईश्वर की पवित्र सत्ता मे राग-द्वेष की शका उत्पन्न हो जाती है।

आवागमन का चक्र इस कर्म-सन्तति पर चलता रहता है। नरक, देव, मनुष्य तथा पशु रूप यह विराट् जगत इसी आवागमन पर टिका हुआ है। जीवन का दुख-सुख, सयोग-वियोग, हर्ष-शोक तथा जन्म-मरण का मूल कारण जीव और प्रकृति का सयोग ही है।

जातिवाद से उद्धार :

इस तरह भगवान महावीर ने दार्शनिक जगत से कर्त्ता रूप ईश्वर

को निष्कासित कर दिया। यह दार्शनिक जगत में उन्होंने यह एक बहुत बड़ा विस्फोट ईश्वर के नाम पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों का संहार करने के लिये किया था।

ब्राह्मण अपना उद्भव ब्रह्मा के मुख से मानते थे। क्षत्रिय को भुजा से उत्पन्न हुआ माना जाता था। वैश्यों को ब्रह्मा के उदर का स्थान मिला और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई ऐसा समझा जाता था। इसकी छाया तो आज तक भी लोक-मानस में कहीं कहीं देखी जाती है। भगवान ने कहा "यह कथन केवल प्रतीकात्मक है। मुख ज्ञान का स्थान है, भुजा शक्ति का, उदर—अन्न का तथा पैर सारे शरीर का आधार होने से उस की सेवा का प्रतीक है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि समाज को ज्ञान, शक्ति अन्न तथा सेवा—जीवन के इन चारों तत्त्वों की अपेक्षा है। प्रत्येक वर्ग में इन चारों गुणों का समुचित विकास होना चाहिये।

भगवान महावीर ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त शक्तियां हैं। वह जिस दिशा में अभ्यास करता है, उसमें वह प्रवीण हो जाता है। ज्ञान ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी हो सकता है। शौर्य ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र में भी जाग सकता है। वाणिज्य में नैपुण्य ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र में भी आ सकता है और सेवा के गुण का आविर्भाव अन्य तीनों वर्णों में भी हो सकता है इसका सम्बन्ध जन्म और जाति से नहीं। इस का सम्बन्ध मनुष्य की साधना और कर्म से है। साधना से संस्कार-परिवर्तित हो सकते हैं। अतएव उन्हों ने कहा—

> कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
> कम्मुणा वइस्सो होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये सब कर्म से ही होते हैं। जाति और जन्म से नहीं।

भगवान महावीर ने जातिवाद के विरोध में ज़ोरदार प्रचार किया। दबे हुए हृदय उभर आए। उन्हें महावीर की वाणी से उत्साह एवं बल मिला। महावीर का विराट् संघ जातिवाद के विरोध में खड़ा हो गया। चारों तरफ साम्यवाद का वातावरण तैयार होने लगा।

नारी जाति की जागृति

शूद्रो के उद्धार के पश्चात् आप ने नारी कल्याण के लिये आन्दोलन आरम्भ किया। आप ने कहा नारी पुरुष से किसी भी तरह कम नही दोनो का अपना-अपना क्षेत्र अलग है। दोनो को अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र रह कर विकास करने का पूरा पूरा अधिकार है। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या उद्दण्डता नही है। स्वतन्त्र जीवन के भी कुछ नियम, व्रत तथा मर्यादाए होती हैं। उसी परिधि मे रह कर वह स्व तथा पर के हित की दृष्टि से अपनी मानवीय शक्तियो का विकास होना चाहिए। इस तरह वह पुरुष के लिये बाधक नही बल्कि पूरक बनती है। गृहस्थ जीवन की गाडी के दो पहिये नारी और पुरुष हैं। गृहस्थ जीवन में दोनो के सन्मान और सहयोग की आवश्यकता है। नारी को हीन रखने से पुरुष अपने जीवन के एक अग का तिरस्कार व उपेक्षा करके अपने को ही दुर्बल बनाता है। प्रकृति ने नारी और पुरुष को अलग अलग शक्तियो मे सम्पन्न किया है। सब कुछ सब के पास नही है। वह एक दूसरे के आदान-प्रदान से पूरा होता है। इसके लिये दोनो के हृदय मे दोनो के लिये आदर, स्नेह सहयोग तथा सहानुभूति होनी चाहिये और इस से भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि अपने जीवन के सुख तथा निर्माण मे दूसरे के महत्त्व को अच्छी तरह पहचाना जाये। अपने जीवन मे दूसरे का महत्त्व समझ मे आ जाने पर कोई भी किसी का निरादर नही कर सकता।

प्रेम मे व्यक्ति एक दूसरे के अधिकारो का शोषण नही करता, बल्कि अपने अधिकारो का भी दूसरे के हित मे उत्सर्ग कर देता है। प्रेम एक सुखद बन्धन है। प्रेम मे सभी स्वतन्त्र रह कर अपना विकास कर सकते है। भगवान महावीर ने अहिंसात्मक तरीके से पुरुष के मन मे नारी के प्रति विशुद्ध प्रेम जागृत कर के उसे पुरुष की दासता से मुक्त कर दिया।

भगवान महावीर ने एक साध्वी-सघ की स्थापना की। नारी ने धडाधड उस मे प्रविष्ट होना शुरू किया। शीघ्र ही साध्वी-सघ की सख्या ३६ हजार तक पहुच गई। इस से मालूम होता है कि उस समय की नारी सामाजिक यन्त्रणाओ से सपीडित हो चुकी थी। दुखी व्यक्ति

त्याग वैराग्य तथा भक्ति मार्ग की ओर अधिक आकर्षित होता है। यही कारण है कि भगवान के संघ मे साध्विया श्रमणो की अपेक्षा लगभग ढाई गुणा अधिक थी। साध्वी सघ का नेतृत्व करने वाली महासती चन्दना स्वय पुरुष के भयकर अत्याचारो की शिकार हो चुकी थी। भगवान महावीर का संघ उन के लिये कल्पवृक्ष सिद्ध हुआ। दासी के हाथ से दान लेने का घोर अभिग्रह भी उन्होने नारी की मुक्ति के लिये ही किया था।

दर्शन के क्षेत्र में एक नया प्रयोग :

उन्होने कहा—"किसी का भी जीवन व जीवन के सुख का अपहरण करना हिसा है। केवल चेतन और शरीर का वियोगीकरण ही हिसा नही वलिक स्वार्थवश मन, वचन और काया के किसी भी असत् सकल्प, वाणी तथा कर्म से किसी भी प्राणी को दुख व पीड़ा पहुंचाना हिसा है। जीवन और जगत मे विद्वेष और कलह के प्रसग भी आते रहते हैं, किन्तु वे जीवन की अपवादिक स्थितिया हैं। वे जीवन के आदर्श व सिद्धान्त नही कहे जा सकते, क्योकि कलह और संघर्ष का कितना भी उग्र रूप क्यो न हो आखिर वह प्रेम और मैत्री द्वारा ही शान्त होता है। अशान्त रहने की स्थिति मे वह ज्वाला की तरह भडकता है। सब को अपना कर्म-भोग करवा कर अन्त मे ठण्डा हो जाता है, और फिर नये सिरे से प्रेम, मैत्री तथा सहयोग का युग शुरू होता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा अहिसा ही परम धर्म सिद्ध होता है। यह कोई कृत्रिम धर्म नही है। यह स्वाभाविक है। त्रैकालिक तथा सार्वभौम है। जीवन और जगत के समस्त सद्‌गुण अहिसा रूपी कल्पवृक्ष की शाखा प्रशाखा हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर ने विश्व मे 'एक आत्मा' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। इस सिद्धान्त ने आत्मीय भाव को विराट् रूप प्रदान किया। प्राणो-मात्र के साथ आत्मीयता के मधुर सम्वन्ध स्थापित होते ही अपहरण, आक्रमण, उत्पीडन तथा शोषण ये सव सदा के लिये समाप्त हो गए। भगवान महावीर ने अहिसा के गम्भीर रहस्य को मानव हृदय मे प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया। भगवान महावीर के अर्घ-लक्ष साधक अहिसा के प्रचार में सलग्न हो गये। कुछ ही वर्षो मे भारत की काया पलट हो गई।

अनेकान्त का विराट् सिद्धान्त :

अब उन्होने एक और ब्रह्मास्त्र उठाया जिस का नाम था अनेकान्त-वाद। भगवान के समय मे चारो तरफ मतो का एक जाल बिछा हुआ था। कहते है कि एक वर्ष मे जितने दिन होते है उतने ही मत उस समय प्रचलित थे। सब मत अपने आप को एकान्त सत्य और दूसरो को एकान्त मिथ्या कह रहे थे। भगवान महावीर जानते थे कि मतों मे परस्पर सौहार्द स्थापित किये बिना अहिंसा जीवित नही रह सकती, क्योकि कभी-कभी सम्प्रदाय के नाम पर भी भयकर रक्तपात हो जाते है। मतो का परस्पर विरोध भी हिंसा का बहुत बडा कारण है। भगवान महावीर अनेकान्त के ब्रह्मास्त्र से इसे समाप्त कर देना चाहते थे। उस समय जितने मत थे उतने ही वाद थे। वादो के बीच अनेकान्त-वाद, वादो की अभिवृद्धि करने के लिये नही था बल्कि वह सब वादो को समाप्त कर प्रत्येक मत मे सत्य की सृष्टि करने के लिये उत्पन्न किया गया था।

महावीर ने कहा—सत्य एक ही है और वह अनन्त धर्मात्मक है। उसके पूर्ण स्वरूप को समझने के लिये उसे अनेक दृष्टिबिन्दुओ से देखने की अपेक्षा रहती है। सब दृष्टि-बिन्दुओ का समन्वय करने पर सत्य का वास्तविक रूप स्थिर हो जाता है। इस सिद्धान्त को अपेक्षावाद तथा स्याद्वाद भी कहते है। प्रत्येक मत को सत्य के प्रति एक दृष्टि है जो अनन्त सत्य के एक पहलू को ही देखती है। उस के दूसरे पहलू को कोई दूसरा मत देखता है। इसलिये सत्य को शोध करने के लिये सब मतो के समन्वय करने की आवश्यकता है।

कभी कभी अपना मत असत् भी होता है और दूसरे का सत् होता है। इसलिये अपने मत का मिथ्याग्रह और दूसरे के मत के प्रति अनादरभाव नही होना चाहिये। सत्य के साधक को अपने मत के सत्याश मे दूसरे मत के सत्याश को जोडने के लिये तैयार रहना चाहिये और अपने मिथ्याश को छोडने और दूसरे के सत्याश को ग्रहण करने के लिये भी सदैव तत्पर रहना चाहिये।

इस प्रकार भगवान महावीर केवल-ज्ञान के बाद लगभग ३० वर्ष तक अपने स्वर्णिम सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे। वे इस

ग्रवसर्पिणी काल के चरम तीर्थङ्कर थे। उन्होने लोक मानस मे सत्य सनातन धर्म की पुन. प्रतिष्ठा की। भारत के वीरान वगीचे मे एक बार फिर वसन्त का शुभागमन हुग्रा। धरातल पर प्रम, स्नेह ग्रौर करुणा का सागर लहराने लगा, नैतिकता उभरी, सभ्यता जागी, मानव सस्कृति का नवोन्मेष हुग्रा। भूतल पर स्वर्ग उतर ग्राया। देवता मानव के सात्त्विक जगत को ग्रनिमेष देखने लगे। मानव को दास वना कर रखने वाले देवता मानव की चरण-वन्दना करने लगे। भगवान महावीर की चरण-धूलि से वसुन्धरा पावन हुई। उन की सकल्प लहरियो से तीनो लोक पवित्र हुए। ग्राप ने ग्रपने तीर्थङ्कर जीवन का उच्चतम लक्ष्य पूर्ण किया। ●

प्रचार-यात्रा

राजगृह की ग्रोर :

ग्रव भगवान महावीर ग्रपने साधु-समुदाय के साथ विहार करते हुए 'राजगृह' के गुणशील चैत्य मे जाकर ठहरे। ४४११ श्रमणो के साथ उनके ग्रागमन का समाचार पाते ही राजगृह नरेश श्रेणिक उनकी छोटी रानी चेलना, ग्रभय कुमार ग्रादि राजकुमार ग्रौर नागरथिक ग्रादि श्रावक समुदाय एव सुलसा ग्रादि श्राविकाए उपदेश श्रवण के लिये प्रभु-चरणो मे ग्रा पहुचे। यहा पर भगवान महावीर ने एक महती धर्म-सभा (समवसरण) मे जीव के लिये परम दुर्लभ मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, सम्यक् श्रद्धा ग्रौर समय-मार्ग मे प्रवृत्ति ग्रादि विपयो पर जो प्रवचन दिये, उनसे जन-मानस उनका ग्रनुयायी वन कर उन्ही का हो गया। मुनि-धर्म ग्रौर गृहस्थ-धर्म के सम्वन्ध मे उनसे मार्ग-दर्शन पाकर ग्रनेको भव्य प्राणियो ने उनके उपदेशानुरूप ग्रपने जीवन-पथ पर प्रगति करनी ग्रारम्भ कर दी।

विदेह-वास :

श्रमण भगवान महावीर ग्रव विशाल साधु-सघ के साथ विहार करते हुए 'व्राह्मण कुण्ड पुर' पहुचे ग्रौर उन्होने 'वहुशाल' नामक

उद्यान मे धर्मोपदेश देने आरम्भ किये। यह स्थान उनकी जन्मभूमि 'क्षत्रिय-कुण्डपुर' ग्राम के अत्यन्त निकट था अत: उनकी धर्म-देशना के श्रवण के लिये क्षत्रिय कुण्डपुर के निवासी भी ब्राह्मण कुण्डपुर मे आने लगे।

यहा पर उनसे धर्म-लाभ प्राप्त कर ब्राह्मण ऋषभदत्त और देवी देवानन्दा ने जो उनके माता-पिता थे[1] प्रव्रजित जीवन स्वीकार किया। भगवान महावीर की सुपुत्री प्रियदर्शना ने एक हजार स्त्रियो के साथ श्री चन्दना जी से दीक्षा ग्रहण कर साध्वी-सघ मे प्रवेश किया[2] और उसके पति जमाली ने भी पाच सौ राजकुमारो के साथ दीक्षा ग्रहण कर प्रभु-चरणो मे रहते हुए धर्म-साधना आरम्भ कर दी।

लगभग एक वर्ष प्रभु ने विदेह मे ही विचरण करते और उन्होने अपने श्रमण-जीवन का चौदहवा चातुर्मास वैशाली मे व्यतीत किया।

तीर्थङ्कर जीवन का पन्द्रहवां वर्ष

वैशाली के चातुर्मास की समाप्ति पर भगवान महावीर वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी[3] मे पधारे। कौशाम्बी नरेश शतानीक की मृत्यु के कारण उनकी रानी मृगावती ही राज्यकार्य सम्भाल रही थी और अपने पुत्र उदयन को राज्यकार्य की शिक्षा दे रही थी।

भगवान महावीर कौशाम्बी के चन्द्रावतरण नामक उद्यान मे ठहरे और उनके धर्म-प्रवचन आरम्भ हो गए। महाराज शतानीक की बहन (उदयन की बूआ) जयन्ती नामक परम विदुषी श्राविका जयन्ती भी प्रभु के धर्मोपदेश सुनने के लिये आई थी। प्रवचन-सभा की समाप्ति पर उसने भगवान महावीर से बडे जटिल दार्शनिक प्रश्न

१. पढिये च्यवन-कल्याणक के पृष्ठ ९ से ११ तक इस पुण्यशील दम्पति का परिचय और देवानन्दा के गर्भ-हरण की घटना।

२ भगवती सूत्र शतक नौवा।

३ इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम का यमुना तटीय प्रदेश 'वत्स' कहलाता था। इलाहाबाद से ३१ मील की दूरी पर 'कोसमइना' और कोसमइखराज नामक ग्राम कौशाम्बी के ध्वसावशेषो पर ही बसे हुए हैं।

किए और भगवान महावीर ने उसके प्रत्येक प्रश्न का आत्म-परितोष-कारी उत्तर दिया। उसका ५ष प्रश्न था—'भगवन्! जीव भारीपन को कैसे प्राप्त होते हैं? भगवान ने उसे बताया कि हिंसा, असत्य, चौर्य आदि अठारह पापो के संस्कार जीव को भारी बना कर अधोगति प्रदान करते हैं।

उसने पूछा—'जीव का जागना अच्छा है या सोना? महावीर कहने लगे—'जयन्ती पुण्यशील का जागना और पाप-प्रवृत्त का सोना अच्छा होता है।

जयन्ती ने पुनः प्रश्न किया—'जीव का सबल होना अच्छा होता है या निर्बल होना?' प्रभु का उत्तर था—'जयन्ती पुण्यशील की सबलता और पाप-प्रवृत्त की निर्बलता अच्छी होती है।'

इसी प्रकार के अनेको जटिल प्रश्नों के समाधान पाकर जयन्ती का हृदय श्रमणत्व के लिये लालायित हो उठा और उसने भी प्रभु से प्रव्रज्या ग्रहण कर महासती चन्दना के श्रमणी-संघ मे प्रवेश किया[1]।

यहा से प्रभु अनेक ग्रामो एवं नगरो को पावन करते हुए श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में पहुचे। सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ आदि श्रावको ने यही पर प्रवज्या ग्रहण कर आत्मोद्धार के पावन मार्ग पर आध्यात्मिक प्रगति आरम्भ की।

यहां से वे पुन. विदेह-राज्य में प्रविष्ट हुए और वाणिज्य ग्राम[2] मे चातुर्मास व्यतीत किया। यही पर गाथापति आनन्द और उनकी पत्नी शिवानन्दा ने बारहव्रती श्रावक धर्म स्वीकार कर अपने उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया।

तीर्थङ्कर जीवन का सोलहवां वर्ष

अब प्रभु-चरण मगध की ओर बढे, अनेक नगरो ने उनके पावन

---

१ भगवती सूत्र शतक १२

२ यह वैशाली के निकट गण्डकी नदी के दक्षिणी तट पर अवस्थित एक विशाल नगर था। मुजफ्फरपुर जिले का 'बजिया' ग्राम वाणिज्य ग्राम के ध्वंसावशेषो के रूप मे आज भी विद्यमान है।

चरणो के स्पर्श से अपने को कृतार्थ किया। राजगृह का पुन भाग्य जागा, वहा का गुणशील चैत्य पुन: प्रभु के धर्म-प्रवचनो से गूँज उठा। यही पर भगवान ने गौतम को 'काल-परिमाण' के तत्त्व समझाए। यही पर शालिभद्र और धन्यकुमार के पुण्य जागे और उन्होने भगवान के चरणो मे पहुंच कर विरक्त जीवन व्यतीत करते हुए आत्मोद्धार किया[1]। वर्षावास का सौभाग्य भी राजगृह को ही प्राप्त हुआ।

सत्रहवां चातुर्मास और उदयन की दीक्षा

राजगृह से भगवान साधु-सघ के साथ चम्पा[2] आए और पूर्णभद्र चैत्य नामक उद्यान मे ठहरे। यहा के राजा दत्त के पुत्र महच्चन्द्रकुमार ने प्रभु चरणो में दीक्षा अङ्गीकार की।

सर्वज्ञ प्रभु ने जाना कि सिन्धु-सौवीर का धर्म-निष्ठ राजा 'उदयन[3]' उनके दर्शनो की अभिलाषा कर रहा है, अत. वे लगभग एक हजार मील की यात्रा करके सौवीर की राजधानी 'वीतभयपत्तन[4]' पहुचे और 'मृग-वन-उद्यान' मे ठहरे। राजा उदयन प्रभु के दर्शन करके कृत-कृत्य हो गया। उसने प्रभु की मगलमयी वाणी सुन कर दीक्षा अगीकार की और श्रमण-धर्म का पालन करते हुए आत्मोद्धार किया।

---

१. प्रतिष्ठान पुर के सेठ धनसार के पुत्र धन्यकुमार ने जिसके पास राजाओ से भी अधिक समृद्धि थी, परन्तु एक सामान्य सी घटना ने इसे ससार से उदासीन कर दिया। वह अपनी ८ पत्नियो को छोड कर अपने साले शालिभद्र के साथ दीक्षित हो गया था। वह धन्यकुमार ही 'धन्ना' के नाम से प्रसिद्ध है।

२ विहार मे भागलपुर से ३ मील की दूरी पर अवस्थित वर्तमान 'चम्पा नाला'।' पहले यहाँ का राजा 'दत्त' था परन्तु बाद मे अजात-शत्रु (कोणिक) ने यहाँ पर अधिकार कर लिया था।

३ स्मरण रहे कि यह वत्स देश के राजा 'उदयन से भिन्न है।

४ ऐतिहासिको का अनुमान है कि पाकिस्तान के अन्तर्गत सरगोधा जिला का जेहलम नदी के तट पर अवस्थित 'भेहरा' नामक कस्बा ही 'वीत-भयपत्तन है। भेहरा 'पत्तन' के रूप मे अब भी प्रसिद्ध है।

अब प्रभु महावीर अनेक कठिन मार्गों को पार करते हुए व
भटिण्डा के मार्ग से "मोका नगरी"[1] पुन वाणिज्य ग्राम आ ग
यही पर उन्होने चातुर्मास व्यतीत किया।

तीर्थङ्कर जीवन का अठाहरवा वर्ष

वाणिज्य ग्राम के चातुर्मास की पूर्णता पर प्रभु महावीर वा
के 'कोष्ठक चैत्य' नामक उद्यान मे ठहरे। यहा के राजा जि
ने आपका अभूतपूर्व स्वागत किया। यही पर चुल्लनीपिता और
पत्नी श्यामा ने तथा सुरादेव और उसकी धर्मपत्नी धन्या ने श्राव
स्वीकार किया। चुल्लनीपिता और सुरादेव अपने युग के करो
सेठो मे वहुत प्रसिद्ध थे।

श्रमण भगवान महावीर ने यहा से पुनः राजगृह की ओर प्र
किया और मार्ग मे 'आलभिया' नामक नगर के शखवन
उद्यान में ठहरे।

आलभिया मे पोग्गल नामक एक वैद्रिक धर्मानुयायी तपस्वी
था। यद्यपि उसने तपस्या द्वारा ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लिया था
से वह धरती पर बैठे हुए ही ब्रह्मलोक तक को देख लेता था, पर
ज्ञान मे वह पूर्णता प्राप्त न कर सका था, साथ ही देवलोको के वि
उसका ज्ञान कुछ भ्रान्तियो से भी युक्त था। वह भी भगवान मह
से देवलोको की व्यवस्था, पृथ्वी से दूरी आदि का यथार्थ ज्ञान
कर प्रभु का ही शिष्य बन गया और भगवती सूत्र के अनुसार
अन्त मे निर्वाण-पद पाया।

आलभिया के धनकुवेर चुल्लशतक ने अपनी पत्नी वहुला के
प्रभु से श्रावक-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। यहां से वे पुनः राजगृ
गुणशील उद्यान मे पधारे और अर्जुन माली आदि ने यही पर
दीक्षा ग्रहण की। इस वर्ष के चातुर्मास से भी उन्होने रा
को ही पावन किया।

उन्नीसवें चातुर्मास के मार्ग में :

चातुर्मास की पूर्णता पर प्रभु महावीर धर्म-प्रचारार्थ राजगृ

---

1 मार्ग की 'मोका' नगरी सम्भवत आधुनिक 'मोगा' नगरी हो।

ही रुके रहे। राजा श्रेणिक प्रभु के वचनो से इतना प्रभावित हुआ कि उसने राज्य मे यह घोषणा करवा दी कि —

"भगवान महावीर से जो भी व्यक्ति दीक्षा लेना चाहे वह ले सकता है। दीक्षित होनेवालो के कुटुम्ब के भरण-पोषण का दायित्व और दीक्षा समारोह की व्यवस्था राज्य की ओर से किये जाएगे।"

महाराज श्रेणिक के तेईस पुत्रो[1] और तेरह महारानियो[2] ने भी भगवान् महावीर से दीक्षा लेकर साधु-जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया।

एक विचित्र घटना

एक दिन भगवान की धर्म-सभा में राजा 'श्रेणिक' उसका पुत्र 'अभय कुमार' और काल शौकरिक नामक कसाई भी आए हुए थे। तभी वहां फटे-पुराने वस्त्र पहने एक रोगाक्रान्त बूढा आया। उसने भगवान की ओर पीठ करके सर्व-प्रथय राजा श्रेणिक से कहा—"सम्राट चिरकाल तक जीते रहो।' भगवान की ओर मुख करके उसने कहा— 'तुम शीघ्र मर क्यो नही जाते।' फिर अभय कुमार से बोला— 'तुम चाहे जीओ, चाहे मरो।' और फिर कालशौकरिक नामक कसाई के अभिमुख होकर बोला—'तुम न तो मरो और न जीओ।'

सब लोग उसकी इस धृष्टता और पहेली जैसे वचनो से स्तब्ध रह गए और वह बूढा सबके देखते ही देखते आखो से ओझल हो गया।

१ श्रेणिक के तेईस पुत्र—जालि कुमार, मयालि कुमार, उवयालि कुमार, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहास, अभय कुमार, दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन, पूर्णसेन। 'लष्टदन्त' नाम के सम्भवत दो पुत्र थे, अत अनुत्तरोपपातिक सूत्र मे प्रथम वर्ग के दश नामो मे तथा द्वितीय वर्ग के १३ नामो मे लष्टदन्त नाम दो बार आया है।

२ श्रेणिक की तेरह महारानिया—नन्दा, नन्दमती, नन्दोत्तरा, नन्द सेणिया, महया, सुमरुता, महामरुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता।

अब राजा श्रेणिक ने भगवान की ओर विस्मित दृष्टि से देखा और बूढ़े की चेष्टाओ के विषय मे पूछा। भगवान ने मुस्कराते हुए कहा—"उस देव पुरुष वृद्ध ने जो कुछ कहा है उसमे जीवन का गूढ़तम रहस्य छिपा हुआ है। सब प्रथम उसने तुमसे कहा 'चिरकाल तक जीते रहो।' उसका आशय यह था कि इस ससार मे तुम्हे सभी सुख प्राप्त हैं, परन्तु मृत्यु के अनन्तर तुम्हे नरक मे जाना होगा, अत. तुम्हारे लिये जब तक जीवन है तभी तक अच्छा है। मर कर तो तुम्हें नरक मे जाना ही होगा।"

उसने मुझ से कहा—'तुम मर क्यो नहीं जाते ?' उसका अभिप्राय यह था कि तुमने 'अरिहन्त' अवस्था प्राप्त कर ली है, अब भी शारीरिक बन्धनो मे क्यो बधे बैठे हो ? मरण अर्थात् मुक्ति को क्यो नही स्वीकार करते ?'

उसने अभय कुमार से कहा तुम चाहे जीओ, चाहे मरो, क्योंकि इस वचन से उसका आशय यह था कि अभय कुमार को यहां राजसी वैभव प्राप्त हैं, अत वह यहा सुखी है और उसकी पवित्र भावनाए उसे देवलोक प्रदान करेंगी, अतः उसके लिये जीवन भी सुखमय है और मरण भी, अत उसके, वर्तमान जीवन और भावी देव-जीवन दोनो ही सुख-रूप हैं, इसी दृष्टि से उसका जीवन और मरण समान है।

वृद्ध ने कालशौकरिक मे कहा—'न मरो न जीओ,' क्योंकि कालशौकरिक कसाई है, उसका जीवन हिंसामय है और साथ ही वह नानाविध सासारिक कष्टो से भी ग्रस्त है, अत उसका जीवन निस्सार है। कालशौकरिक ने मर कर नरक मे जाना है, अत. उसका मरण भी दुखदायी है, इसलिये वह न मरे और न जीए।

नरक-मुक्ति के उपाय

वृद्ध देव-पुरुष की बातो के रहस्य को जान कर श्रेणिक प्रसन्न तो हो गया, परन्तु अब उसे नरक-गमन का भय सताने लगा। उसने प्रभु-चरणो मे प्रार्थना की—"भगवन् ! मुझे नरक से मुक्ति का उपाय बताए।" भगवान् ने कहा—'श्रेणिक तुमने नरक-भोग के अनन्तर भविष्य मे तीर्थङ्कर पद प्राप्त करना है, अत घबराओ नही, परन्तु

श्रेणिक को वर्तमान और भावी जीवन के मध्य का नरक-वास त्रस्त कर रहा था। उसने वारम्वार प्रभु-चरणो मे नरक से मुक्ति के उपाय पूछे, तो भगवान् ने उसे कहा—"श्रेणिक! यदि 'राजगृह' की कपिला-ब्राह्मणी से दान करवा दो तो तुम्हारी मुक्ति हो सकती है।' श्रेणिक ने अनेक उपाय किये, परन्तु कपिला दान के लिये प्रस्तुत न हुई। राजा ने जबर्दस्ती दान करवाया तो वह बोली—"दान मैं नही राज-कर्मचारी कर रहा है।"

उसने भगवान् मे अन्य उपाय पूछा तो भगवान् ने कहा—"यदि कालशौकरिक से हिंसा-कर्म छुडवादो तो तुम नरक-याचना से मुक्त हो सकते हो।" श्रेणिक ने अनेक प्रलोभन दिए, भय दिखाया, परन्तु कालशौकरिक ने वध-कर्म का त्याग नही किया। राजा ने उसे एक कुए मे लटकवा दिया, वह वहा पर भी हथेली पर अगुलियां फेर-फेर कर भावना से हिंसा करता ही रहा।

निराश श्रेणिक ने अन्य उपाय पूछा तो भगवान ने कहा—"यदि तुम्हारी दादी दर्शनार्थ आ जाए तो तुम नरक से मुक्त हो सकते हो।' श्रेणिक ने दादी से अनेक प्रकार की विनय की, परन्तु वह नही मानी। जब श्रेणिक ने उसे बलात् दर्शनार्थ ले जाने के लिये पालकी मे बिठलाया तो उसने मार्ग मे अपने हाथो से अपनी आखे फोड ली।

श्रेणिक असफल होकर पुन प्रभु-चरणो मे पहुच कर अन्य उपाय पूछने लगा। भगवान् ने कहा—'राजगृह का पूनिया श्रावक यदि तुम्हे एक 'सामायिक' वेच दे तो तुम नरक-से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो।। श्रेणिक ने पूनिया श्रावक से अनेक विध प्रार्थनाए की, परन्तु वह एक ही वात कहता—'राजन्! सामायिक का मुझे मूल्य पता नही, जिसने तुम से सामायिक खरीदने के लिये कहा है उसी से जाकर सामायिक का मूल्य पूछ आओ। 'श्रेणिक पुन. प्रभु-चरणो मे आया और सविनय बोला—'भगवन्! सामायिक का मूल्य आप ही बताए। पूनिया को उसका मूल्य पता नही है। तब भगवान् ने कहा—श्रेणिक! सामायिक तो आत्म-अवस्थिति है, समता में स्थिर होना है रागद्वेष से मुक्त होकर अध्यात्म-जीवन मे प्रवेश है; क्या यह मूल्य चुका सकोगे? हिमालय के

शिखरो से ऊचा रत्नो का ढेर भी सामायिक के मूल्याकन के लिये तुच्छ है।

राजा श्रेणिक को ज्ञात हो गया है कि मेरा नरक-गमन अवश्य भावी है, अत मुझे सजग होकर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र :

एक दिन राजा श्रेणिक ने भगवान् के दर्शनो के लिये आते हुए एक महर्षि को उग्र तपस्या करते हुए देख कर पूछा—'भगवन्! यह महर्षि किस उत्तम गति को प्राप्त करेगा।'

भगवान् महावीर ने कहा—श्रेणिक! यदि यह इस समय मृत्यु को प्राप्त हो जाये तो यह सातवे नरक .. - छठे नरक......नही पाचवे नरक ... चौथे नरक . .. तीसरे नरक...... दूसरे नरक......पहले नरक, नही श्रेणिक प्रथम देव-लोक,.....इसी क्रम से प्रभु ऊपर के ब्रह्मलोक और उसके अनन्तर सहसा बोले अब तो वह केवल ज्ञानी बन कर मोक्षाधिकारी बन गया है।

सारी सभा विस्मियत थी। प्रभु के इस कथन ने सब को आश्चर्य के सागर मे डुबो दिया। अब भगवान् ने कहा—

श्रेणिक! ये महर्षि राजा प्रसन्नचन्द्र है। जब तुम दर्शनार्थ आ रहे थे तो तुम्हारे दो सैनिको से इन्होने सुना—'यह राजा प्रसन्न चन्द्र अपने छोटे से पुत्र को राज्य देकर तपस्या कर रहा है और उसका नन्हा सा पुत्र शत्रुओ से घिरा हुआ है।"

यह सुनते ही महर्षि प्रसन्नचन्द्र क्रोधावेश मे आगए और मन ही मन पुत्र के शत्रुओ पर आक्रमण करने लगे। भाव-जगत् मे इन्होने समस्त अस्त्र-शस्त्र शत्रुओ पर फैंके और खून की नदिया बहाते रहे, तब यह नरक की गति मे गिरते चले जा रहे थे। शस्त्र समाप्त होने पर उन्होने शत्रु पर अपना मुकुट फैंकना चाहा, अत. इनके हाथ मुंडे हुए सिर पर पहुचे, तो इन्हे तत्काल ज्ञान हुआ "मैं तो एक साधु हू, मेरा कौन शत्रु है, कौन पुत्र है? कोई नही। मेरे लिये सब समान है, सब महान् हैं। इस प्रकार भाव जगत् की शुद्धि इन्हे क्रमश. देवलोको की ओर ले जा रही

थी। अन्त मे ऐसी भाव-विशुद्धि हुई कि अब इन्हे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है, अत अब वे मोक्ष-गमन की ही तैयारी कर रहे हैं।

मानसिक पाप-पुण्य का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर राजा श्रेणिक नत-मस्तक होगया।

यही पर भगवान् के प्रवुद्ध शिष्य श्री आर्द्रक मुनि के साथ गोशालक का वार्तालाप हुआ था और उन्होने गोशालक को समझाया था कि मैंने प्राणिमात्र के उद्धार की प्रवल इच्छा से प्रेरित होकर ही एकान्त जीवन का परित्याग करके संघ-जीवन अपनाया है।

आर्द्रक मुनि जी ने यही पर वौद्ध-भिक्षुओ को समझाया था कि—"प्राणियो की हिंसा करके भिक्षुओ को भोजन देनेवाला गृहस्थ सद्गति प्राप्त नही कर सकता।

आर्द्रक मुनि जी ने इसी चातुर्मास मे ब्राह्मणो के एक वडे वर्ग को, साख्य-दर्शन के अनुयाइयो को, हस्ति-तापसो को प्रवोध दिया और वे भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर श्री आर्द्रक मुनि जी की ज्ञान-गरिमा की छाया मे वैठकर साधु-जीवन व्यतीत करते हुए आत्म-कल्याण करने लगे। यह चातुर्मास भी राजगृह मे ही व्यतीत हुआ।

तीर्थङ्कर जीवन का बीसवां वर्ष

वर्षावास की पूर्णता पर प्रभु ने कौशाम्वी की ओर विहार कर दिया। मार्ग मे आलभिया के शखवन नामक महा उद्यान मे ठहरे। आलभिया के प्रसिद्ध श्रमणोपासक ऋषिभद्र से वहां के श्रावक देवलोको के सम्वन्ध मे जो कुछ सुना करते थे, प्रभु के वहा पहुचने पर जव वे ही वातें उन्होने प्रभु महावीर से भी सुनी तो उनकी श्रमणोपासक ऋषिभद्र पर तथा भगवान महावीर पर अगाध श्रद्धा हो गई। आलभिया से प्रभु कौशाम्वी की ओर चल पडे।

हृदय वदल गया

कौशावी नरेश शतानीक की पत्नी मृगावती श्रमणोपासिका थी। वह रूपवती नवयौवना सुन्दरी थी, अत. अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत जो उसका वहनोई था, वह उसके रूप-सौन्दर्य पर आसक्त था। विधवा

रानी मृगावती उसके सैनिक-वल के कारण उसे अनेक प्रकार की युक्तियो से टाल रही थी, परन्तु इस वार वह अन्तिम निर्णय के लिये सेना सहित कौशाम्बी आ पहुचा। इसी समय भगवान् महावीर का भी वहा आगमन हो गया। भला जहां भगवान् महावीर हो वहां द्वेष-मय वातावरण कहा रह सकता था ? अतः उसकी द्वेपाग्नि एव कामाग्नि स्वत ही शान्त होने लगी।

भगवान् की धर्म-सभा मे मृगावती और चण्ड प्रद्योत दोनो ही पहुचे। प्रभु की वाणी ने मृगावती के हृदय की वैराग्य-भावना को उद्दीप्त कर दिया और उसने उचित अवसर देख कर वड़ा वहनोई होने के नाते चण्डप्रद्योत से उदयन की रक्षा का आश्वासन और स्वय के दीक्षित होने की आज्ञा मागी।

चण्डप्रद्योत भी उस समय शुद्ध-भावनाओ मे लीन था। उसने भगवान् के सान्निध्य मे उदयन के राज्य-रक्षण का आश्वासन दे दिया और मृगावती दीक्षा के लिये प्रस्तुत हो गई। राजा चण्ड प्रद्योत की अगारवती आदि आठ महारानियो ने भी चण्ड प्रद्योत से दीक्षा की आज्ञा मागी तो उसने मन्त्रमुग्ध की भाति उन्हे भी साधु-जीवन मे प्रवेश की आज्ञा दे दी। इस प्रकार ये नौ महारानियां भी श्रमणी-सघ मे प्रविष्ट होकर साधना-पथ पर बढने लगी।

भगवान् इस प्रदेश मे साधु-सघ के साथ विहार करते हुए ग्रीष्मान्त मे वैशाली पहुच गए और बीसवा चातुर्मास उन्होने यही पर व्यतीत किया।

इक्कीसवें चातुर्मास को ओर

वैशाली के चातुर्मास की पूर्णता पर प्रभु महावीर ने विहार कर दिया और उत्तरी विदेह एव मिथिला होते हुए काकन्दी[1] पहुच कर उन्होने धन्य एव सुनक्षत्र आदि को दीक्षित किया।

यहा से श्रावस्ती को पावन करते हुए काम्पिल्य निवासी महा-

१ काकन्दी यह उत्तर प्रदेश के गोरखपुर नगर से तीस मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित वर्तमान किष्किन्धा (खुखुन्दो जी) नामक दिगम्बर जैन तीर्थ का प्राचीन नाम ज्ञात होता है।

सेठ गृहपति कुण्डकोलिक को श्रमणोपासक बना कर अहिच्छत्रा[1] और गजपुर[2] होते हुए पोलासपुर आए। यहा भगवान् सद्दालपुत्र नामक कुम्हार की प्रार्थना पर उसकी भाण्ड-शाला मे ठहरे। सद्दालपुत्र को जैन-शास्त्रो ने तीन करोड स्वर्ण मुद्राओ का एव दस हजार गौओ का स्वामी लिखा है। वह मखलिपुत्र गोशालक के आजीवक सम्प्रदाय का एक वडा स्तम्भ माना जाता था, अत वह नियतिवादी था—अर्थात् वह 'यदभावी न तद् भावी, भावी चेन्न तदन्यथा'—जो नही होना वह नही होता और जो होना है वह होता ही है"— इस सिद्धान्त को माननेवाला था। प्रभु महावीर ने उसे नाना युक्तियो से इस मिथ्या-वाद से मुक्त कर श्रम और पुरुषार्थ का महत्व समझाया और वह भी श्रमणोपासक वनकर भगवान महावीर की धर्माचार्य के रूप मे आरा-धना करने लगा।

यद्यपि मखलिपुत्र गोशालक ने वहा आकर भगवान् महावीर को महामाहण (ज्ञान-दर्शन के धारक), महागोप (सासारिक लोगो के रक्षक), महा-धर्म-कथी (धर्म-तत्त्व के उपदेशक) और महा निर्यामक (ससार-सागर से तारनेवाले) आदि कह कर भगवान् महावीर की कपट प्रशसाए करके उसे पुनः अपने मत मे लौटाना चाहा, परन्तु उसकी श्रमण-श्रेष्ठ महावीर के चरणो मे उत्पन्न श्रद्धा ने उसे स्थिर रखा और गोशालक को निराश होकर लौट जाना पडा।

पोलासपुर से प्रभु महावीर पुन. वाणिज्यग्राम पधारे और उन्होने यही पर वर्षावास किया।

बाइसवां चातुर्मास राजगृह में

वर्षावास की पूर्णता पर प्रभु श्री सघ के साथ विहार करते हुए राजगृह पधारे। राजगृह के समवसरण मे गाथापति महाशतक श्रमणो-पासक वना।

महाशतक २४ करोड स्वर्ण मुद्राओ का स्वामी और ८० हजार

---

१ अहिच्छत्ता यह उत्तर प्रदेश मे वरेली से लगभग २० मील दूर एक नगर था। पुरातत्त्ववेत्ता यहाँ के ध्वसावशेषो का अध्ययन कर रहे है।

२ गजपुर यह हस्तिनापुर का अन्य नाम था।

गौओ का स्वामी था। इसकी तेरह पत्निया थीं। इसकी पत्नी रेवती ने अपनी १२ सौतो को छल मे मार डाला था। मद्य-मास उसके प्रिय खाद्य एव पेय थे। वह कामासक्ता वासनालोलुप नारी थी।

राजगृह मे प्रभु के पधारने पर महाशतक ने १२ व्रत धारण कर श्रावक धर्म का पालन आरम्भ कर दिया। अब उसने ज्येष्ठ पुत्र को गृह-भार सम्भाल कर धर्म साधना आरम्भ कर दी।

जब वह धर्मस्थान (उपाश्रय) मे धर्म-साधना करने जाता तो रेवती वहां पहुच कर उसे अनेक प्रकार से वासनामय जीवन की ओर आकृष्ट करती थी, परन्तु महाशतक स्थिर भाव से साधना करते रहते थे वे कभी भी विचलित न होते थे।

धीरे-धीरे महाशतक अपने अवधिज्ञान से ऊपर के पहले देवलोक और नीचे के पहले नरक तक को देखने लग गए। एक दिन रेवती की अभद्र चेष्टाओ के कारण उन्हे क्रोध आ ही गया और उन्होने कहा—'तुम क्या कर रही हो। तुमने तो विषूचिका रोग से पीड़ित हो कर सातवें दिन मर कर चौरासी हजार वर्षो के लिये नरक मे जाना है।"

रेवती अब होश मे आई, परन्तु अब तीर हाथ से निकल चुका था। महाशतक का कथन सत्य हुआ।

भगवान् महावीर यह सब कुछ जान गए और उन्होने गौतम को भेज कर महाशतक को कटु वाणी बोलने का प्रायश्चित्त करने के लिये कहा और महाशतक ने मासिक सथारे द्वारा आराधक होकर देवलोक प्राप्त किया।

यहा पर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी कुछ स्थविरो ने आकर भगवान् से लोक की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न किए। भगवान् ने एक लोक-द्रष्टा के रूप मे जो उत्तर दिए उनसे प्रभावित होकर उन्होने चातुर्याम[1] धर्म के स्थान पर अब प्रभु

---

१ भगवान पार्श्वनाथ के अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह रूप चार व्रतो वाले धर्म को चातुर्याम धर्म कहा जाता था, क्योकि भगवान् पार्श्वनाथ 'स्त्री' को भी परिग्रह ही मानते थे। भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य को विशेष महत्त्व देने के लिये स्त्री-परिग्रह को भिन्न माना और पाँच महाव्रतो का विधान किया।

वीर का पच महा व्रतात्मक सप्रतिक्रमण-धर्म स्वीकार कर अपने को कृतकृत्य किया।

यही पर मुनिराज रोह ने प्रभु से लोक-अलोक, जीव-अजीव, भव-सिद्धिक, और अभव-सिद्धिक, अण्डा पहले या मुर्गी पहले आदि के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न किए और भगवान ने लोक-अलोक आदि की शाश्वत स्थिति का परिज्ञान कराते हुए मुनिराज रोह को 'अनेकान्तवाद' के तत्त्व समझाए।

यही पर भगवान महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्नो का उत्तर देते हुए बताया कि—

"गौतम ! आकाश पर वायु प्रतिष्ठित है, वायु के आधार पर घनोदधि ठहरा हुआ है, उसके आधार पर पृथ्वी है, पृथ्वी पर त्रस एव स्थावर जीव रहते है, इन जीवो के आधार पर अजीव अर्थात् शरीर की सत्ता विद्यमान है, जीव का आधार कर्म है, जीव द्वारा अजीवसगृहीत है और कर्म-सगृहीत जीव है।"

गौतम ने कहा—"प्रभो ! वायु पर इतना भार कैसे रह सकता है ?"

प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान ने कहा—"गौतम ! जैसे कोई व्यक्ति मशक को हवा से भर कर उसका मुह बद करदे, फिर उस मशक के मध्य भाग को मजबूती से बाधकर मुह पर बधी गाठ को खोल कर आधे भाग की हवा निकाल कर उस भाग मे पानी भर कर फिर से मशक के मुह को बाध दे और फिर मध्य की गाठ खोल दे, तब पानी वायु पर ठहरा हुआ मशक के एक भाग मे ही स्थिर रहता है, इसी प्रकार लोक मे वायु के आधार पर समुद्र एव पृथ्वी प्रतिष्ठित ।

राजगृह-निवासी चातुर्मास भर प्रभु के मुखारविन्द से प्रवाहित ज्ञान-गगा में स्नान कर पावन होते रहे।

उदित होते हुए सूर्य के समान भगवान् राजगृह से विहार करके अनेक ग्रामो और नगरो की स्पर्शना करते हुए कृतगला (कचगला) नगरी के छत्रपलाश नामक उद्यान मे ठहरे। उनके उपदेशामृत का पान करने लिये जन-समूह उमड पडा।

कृतगला श्रावस्ती[1] के निकट ही थी। श्रावस्ती के समीप एक मठ मे त्रिदण्डधारी स्कन्दक नाम के एक तपस्वी परिव्राजक रहते थे। उनसे पिंगलक नाम के एक निर्ग्रन्थ मुनि ने निम्नलिखित प्रश्न किए थे :—

१ इस लोक का अन्त है या नही ?
२ जीव का अन्त है या नही ?
३ सिद्धि का अन्त है या नही ?
४. सिद्धो का अन्त है या नही ?
५ किस मरण से जीव ऊर्ध्वलोक-गामी या अधोलोक-गामी बनता है ?

परिव्राजक स्कन्दक इन प्रश्नो मे खो गए थे और वे इनका सम्यक् उत्तर चाहते थे। भगवान महावीर का आगमन सुनकर स्कन्दक परिव्राजक कृतगला की ओर चल पडे।

उधर भगवान महावीर ने गौतम जी को उनके आगमन की एव पिंगलक द्वारा पूछे गए प्रश्नो की पूर्व सूचना दे दी थी। स्कन्दक गौतम जी के साथ प्रभु-चरणो मे आए और उनके तेजस्वी स्वरूप के समक्ष उनका मस्तक अनायास ही झुक गया।

भगवान महावीर ने लोक के सन्दर्भ मे स्कन्दक के प्रश्नो का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से समाधान करते हुए कहा—

"स्कन्दक ! द्रव्य की दृष्टि से यह लोक सान्त और एक है, क्षेत्र की दृष्टि से असख्य कोटि-कोटि[2] योजन परिमाण वाला है, फिर भी सान्त है। काल की अपेक्षा से यह शाश्वत है, अत: अनन्त है, भाव की अपेक्षा से भी लोक अनन्त है, क्योकि अनन्त वर्णो, गन्धो, गुरुत्व, लघुत्व आदि की दृष्टि से इसके अनन्त रूप है।

१ श्रावस्ती बिहार के गोडा जिले मे बलराम पुर के पश्चिम मे बारह मील की दूरी पर राप्ती नदी के तट पर बसा एक समृद्ध नगर था जिसके ध्वसावशेष सहेठ-महेठ के नाम से आज भी पहचाने जा सकते हैं।

१ करोड की सख्या को करोड से गुणा करने पर आनेवाले गुणनफल को 'कोटि-कोटि' या कोडा-कोडि कहा जाता है।

जीव भी द्रव्य की दृष्टि से एक है, अत सान्त है, क्षेत्र की दृष्टि से अनन्त प्रदेशोवाला है तथापि सान्त है, काल की अपेक्षा यह ज्ञान-दर्शन एव चारित्र आदि अनन्त रूपो से युक्त होने के कारण इसे अनन्त भी कहा जा सकता है।

इसी प्रकार सिद्धि और सिद्ध भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सान्त भी हैं और अनन्त भी हैं।

अभावो से ग्रस्त होकर, जीवन से निराश होकर आत्म-हत्या करके मरना आदि बारह प्रकार के मरण को बाल-मरण कहा जाता है और शुभ ध्यान-पूर्वक अनशनादि के द्वारा मृत्यु के सिर पर पैर रख कर शरीर का त्याग करना पण्डित-मरण है।

स्कन्दक के ज्ञान-नेत्र खुल गए, उसने दण्ड-कमण्डलु आदि त्याग कर भगवान मे श्रमणत्व की दीक्षा प्राप्त कर आत्मोद्धार किया।

कृतगला के छत्र-पलास उद्यान से प्रभु श्रावस्ती के कोष्ठक उद्यान मे आए, यहा जो प्रवचन-गगा प्रवाहित हुई उसमे स्नान कर नन्दिनी पिता और सालिही पिता आदि सेठो ने पत्नियो सहित श्रावकत्व स्वीकार किया।

यहा से चलने के बाद भगवान पुन· वाणिज्य ग्राम मे पहुचे और उनके इस चातुर्मास-निवास का श्रेय वाणिज्य-ग्राम को ही प्राप्त हुआ।

चौबीसवां चातुर्मास : जमालि का पृथक् विचरण

श्रमण भगवान महावीर वाणिज्य ग्राम से ब्राह्मण कुण्डपुर के बहुसाल उद्यान मे पहुचे जमालि भगवान के सासारिक पक्ष का जामाता था और वह पाच सौ राजकुमारो के साथ प्रव्रजित हुआ था। एक बार उसने प्रभु से प्रार्थना की —'भन्ते! मैं अपने पाच सौ साधुओ के साथ अन्यत्र विचरण करना चाहता हूँ।' परन्तु उसके तीन बार पूछने पर भी अनिष्ट जानकर प्रभु ने कोई उत्तर नही दिया। भगवान के मौन की उपेक्षा करके जमालि अपनी साधु-मण्डली के साथ वहा से स्वय ही निह्नवता की ओर चला गया।

सत्य का समर्थन

सन्मति भगवान महावीर सत्य के उपासक थे, अतः वे स्व-पर

का ध्यान न रखकर 'जो सच्चा सो मेरा' का निश्चय रखते थे। ब्राह्मण कुण्ड पुर से वे कौशाम्वी आए, जैनागम कहते हैं कि यहां पर उन्हे वन्दना करने के लिये सूर्य और चन्द्र के इन्द्र अपने वास्तविक शरीर मे ही कौशाम्वी मे आए थे। इस घटना को 'आश्चर्य' माना गया है।

कौशाम्वी से काशी की स्पर्शना करते हुए भगवान राजगृह में पधारे। उस समय राजगृह के निकटवर्ती तुंगीया के पुष्यवतीक चैत्य में भगवान पार्श्वनाथ के स्थविर ठहरे हुए थे, उनसे तुंगीया के श्रावको ने पूछा—'देवलोक मे देव किस कारण से उत्पन्न होते हैं ? तो पार्श्वापत्यो ने बताया कि पूर्वतप, पूर्व-सयम, कर्मिकता और सांगिकता (आसक्ति) के कारण देव देवलोक मे उत्पन्न होते हे।'

श्री गौतम स्वामी उसी दिन भिक्षा के लिये गए तो उन्होने पार्श्वापत्यो के उत्तर सुने और भिक्षा से लौट कर उन उत्तरों की यथार्थता के विषय मे भगवान से पूछा तो उन्होने पार्श्वापत्यो के द्वारा प्रतिपादित सत्य का उदार हृदय से समर्थन किया।

तीर्थंकर जीवन : पच्चीसवां वर्ष

राजगृह-चातुर्मास के अनन्तर भगवान महावीर मगधपति श्रेणिक के देहावसान के वाद कोणिक द्वारा नव निर्मित राजधानी चम्पा के 'पूर्णभद्र चैत्य' मे ठहरे। उनके प्रवचन सुनने के लिये कोणिक भी सपरिवार आया। भगवान् के प्रवचनामृत का पान कर महाराज श्रेणिक के पद्म, महापद्म आदि दस पौत्रो ने मुनिधर्म अगीकार कर लिया। जिन-पालित आदि अनेक श्रेष्ठियों ने भी मुनि-जीवन अगीकार किया तथा 'पालित' आदि अनेक श्रेष्ठियो ने 'श्रावक-धर्म' मे दीक्षित होकर श्रद्धामय पावन जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया।

यहा से वे विदेह मे प्रविष्ट हुए। मार्ग मे काकन्दी मे क्षेत्रक और धृतिधर आदि श्रेष्ठियो को श्रमण-धर्म मे दीक्षित कर मिथिला पहुंचे और यह चातुर्मास वही व्यतीत किया।

तीर्थङ्कर जीवन : छब्बीसवां चातुर्मास

भगवान महावीर मिथिला के चातुर्मास की समाप्ति पर अगदेश की ओर वढ़े। इन दिनो विदेह की राजधानी "वैशाली" मे महाराज

कोणिक और वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक मे भयकर युद्ध हो रहा था। भगवान पुन चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य नामक उद्यान मे पहुचे। यहां उनके प्रवचन सुनने के लिये श्रेणिक की दस रानिया काली आदि भी आई। उनके पुत्र कोणिक की ओर मे युद्ध मे लडने के लिये वैशाली की रणभूमि मे गए हुए थे। उनकी कुशलता पूछने पर भगवान ने उनकी मृत्यु का हाल बताते हुए ससार की विनश्वरता का जो वर्णन किया उससे प्रभावित होकर उन दसो राजमाताओ ने श्रमणी "धर्म" अगीकार कर लिया और निरन्तर आत्मोद्धार का प्रयास करने लगी।

वहा से उन्होने मिथिला की ओर विहार कर दिया और यह छब्बीसवा चातुर्मास मिथिला मे सम्पन्न हुआ।

तीर्थङ्कर जीवन : सत्ताईसवां वर्षावास :

वर्षावास की पूर्णता पर भगवान महावीर ने विहार कर दिया और अनेक क्षेत्रो की स्पर्शना करते हुए श्रावस्ती के "कोष्ठक चैत्य" नामक उद्यान में ठहरे।

इन्ही दिनो मखलिपुत्र गोशालक भी श्रावस्ती की 'हालाहला' नामक सम्पन्न कुम्हारिन की भाण्डशाला मे ठहरा हुआ था। यहा उसका दूसरा परम भक्त अयपुल भी रहता था। मखलिपुत्र गोशालक भी अपने को 'तीर्थङ्कर' कहा करता था और अपने आजीवक धर्म का प्रचार कर रहा था। गौतम जी ने श्रावस्ती मे एक साथ दो तीर्थङ्करो के पधारने की बात जब जनता द्वारा सुनी तो उन्होने लौटकर भगवान् महावीर से इस तथ्य को बताने की प्रार्थना की तो भगवान् ने गोशालक का पूर्ण परिचय दे दिया। यह चर्चा श्रावस्ती मे धूप-धूम के समान सर्वत्र फैल गई और धीरे-धीरे गोशालक के पास भी यह चर्चा पहुच गई। उसने क्रोधावेश मे आकर भगवान से बदला लेने का निश्चय कर लिया।

आनन्द और गोशालक :

भगवान महावीर का एक स्थविर शिष्य आनन्द जो सर्वदा एक दिन उपवास और एक दिन भोजन करता था वह इस क्रम से तप

करता हुआ भिक्षार्थ नगर मे गया तो उसे गोशालक ने रोक लिया और कहा— 'जरा मेरी बात सुनकर जाओ।' आनन्द रुक गया तो गोशालक ने कहा—

'आनन्द! एक बार चार वणिक व्यापार के लिये जा रहे थे। मार्ग मे उन्हे एक वन मे बहुत प्यास लगी, परन्तु उन्हे आस-पास कही भी जल प्राप्त नही हो रहा था। तभी उन्होने चार शिखरो वाली एक वाम्बी (वाल्मीक) दिखाई दी। उन्होने एक शिखर तोडा तो उन्हे उसके नीचे शीतल जल प्राप्त हुआ। उन लोभी वनिको ने दूसरा शिखर भी तोड दिया तो उसके नीचे से उन्हे विशाल स्वर्ण-राशि प्राप्त हुई। लोभ और बढ गया, अत. तीसरा शिखर भी तोड़ दिया और उसके नीचे से उन्हे विशाल रत्न-भण्डार प्राप्त हुआ। लोभी वणिको ने चौथा शिखर भी तोडने का निश्चय किया तो उनके एक साथी ने कहा—'अति लोभ बुरा होता है', अत चौथा शिखर मत तोडो और इस प्राप्त धन-राशि को लेकर चल दो। परन्तु वे नही माने अत चौथा साथी वहा से दूर हट गया। चौथा शिखर जैसे ही टूटा उसके नीचे से एक दृष्टिविष सर्प निकला जिसके विष से तीनो का प्राणान्त हो गया। चौथा साथी प्राप्त वैभव के साथ गन्तव्य स्थान पर पहुच गया।

आनन्द! तुम्हारे धर्म-गुरु को भी तपस्तेज और यश प्राप्त हो चुका है, अब वह अधिक कीर्ति के लोभ से मेरे विषय मे अनाप-शनाप बाते कह रहा है, अत उससे कह देना कि वह अनर्गल बाते कहना बद कर दे अन्यथा उसकी दशा भी लोभी वनिको जैसी होगी।

गोशालक की सारी चर्चा आनन्द ने प्रभु महावीर को सुनाई तो उन्होने कहा—'आनन्द! गोशालक तेजोलेश्या के प्रयोग मे समर्थ है। वह यही आनेवाला है, अत समस्त साधु वर्ग को कह दो कि वे गोशालक से किसी तरह का वाद-विवाद न करे।'

गोशालक प्रभु के पास आया ·

गोशालक भगवान के पास आया और कुछ दूर खडे होकर बोला—'आयुष्मन् महावीर! मै मखलि पुत्र गोशालक नही हूँ मैं तो कोण्डियायन गोत्रीय उदायी हू, मैंने गोशालक का शरीर धारण किया हुआ है, क्योंकि यह शरीर सर्वविध कष्ट सहन करने मे सक्षम है। मैंने स्वेच्छा से यह

सातवां शरीर धारण किया है, क्योंकि मेरे मे पर-शरीर-प्रवेश की शक्ति है।"

भगवान् ने कहा—गोशालक! अपने को छिपाने का प्रयास मत करो। सत्य का अनुकरण ही श्रेयस्कारी होता है।'

गोशालक ने क्रोध मे भर कर कहा—'काश्यप![1] तुम्हारे दिन पूर्ण होने वाले हैं, अब तुम इस धरती पर विचरण नही कर सकोगे।'

गोशालक के इस अभद्र व्यवहार को देखकर सर्वानुभूति नामक साधु से रहा न गया और वह गोशालक को समझाने के लिये उसके पास गया तो गोशालक ने उसे 'तेजोलेश्या'[2] से भस्म कर दिया और वह फिर महावीर के प्रति अभद्र वचन कहने लग गया। सर्वानुभूति की दशा देखते हुए सुनक्षत्र नामक साधु से भी रहा न गया और वह भी उसे समझाने के लिये उठा तो उसे भी गोशालक की तेजोलेश्या से भस्म हो जाना पडा।

अब भगवान् महावीर ने गोशालक को स्वय समझाने का निश्चय किया तो गोशालक ने उन पर भी तेजोलेश्या से प्रहार किया, किन्तु तेजोलेश्या की लपटें प्रभु महावीर के वज्रोपम शरीर से टक्करा कर वापिस हो गईं और मखलिपुत्र गोशालक के शरीर मे प्रविष्ट हो गईं।

तेजोलेश्या के अनुचित प्रयोग के कारण गोशालक विक्षिप्त हो गया, उसका शरीर जलने लगा और वह सातवे दिन समाप्त हो गया। गोशालक को सातवे दिन अपने अपराध की अनुभूति हुई और पश्चात्ताप करते हुए एव मानसिक रूप मे क्षमा-याचना करते हुए शुभ परिणामो से उसने शरीर का त्याग किया था, अत वह अच्युतकल्प नामक देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। सर्वानुभूति सहस्रारकल्प नामक देवलोक मे तथा सुनक्षत्र मुनि अच्युत कल्प नामक देवलोक मे उत्पन्न हुए। गौतम के प्रश्न का समाधान करते हुए इन तीन आत्माओ के देवलोकवास की बात भी भगवान महावीर ने ही बताई थी।

---

१ कश्यप गोत्रीय होने के कारण महावीर को 'काश्यप' भी कहा जाता है।

२ तप द्वारा प्राप्त एक प्रकार की तैजस् शक्ति जिसके द्वारा किसी को भी जलाया जा सकता है।

महावीर की अस्वस्थता और उपचार :

तेजोलेश्या के प्रहार-प्रभाव से भगवान् महावीर का शरीर भी रक्तातिसार और पित्तज्वर से ग्रस्त रहने लगा। जब श्रावस्ती से विहार करके भगवान् अनेक स्थानो की यात्रा करते हुए छः मास वाद मेढिय ग्राम मे पहुचे और 'सालकोष्ठक चैत्य' नामक उद्यान मे ठहरे। परम तपस्वी सिंह मुनि भगवान् की अस्वस्थता दुर्वलता एवं गिरती हुई शारीरिक दशा को देख कर एक दिन पास ही मालुका कच्छ मे जाकर फूट-फूट कर रोने लग तभी भगवान ने अपने शिष्यो को बुलाकर कहा—'आर्यो! भद्रप्रकृति सिंह अनगार मेरे स्वास्थ्य की विगडती हालत से घबरा कर मालुका कच्छ में रो रहे हैं। जाओ उन्हे बुला लाओ। उनके आने पर भगवान् ने कहा—सिंह! इतने चिन्तातुर क्यो हो उठे हो मेरा यह शरीर अभी साढ़े पन्द्रह वर्ष इस धरातल पर ही सानन्द रहेगा। यदि तुम मुझे स्वस्थ देखना ही चाहते तो जाओ इसी ग्राम मे रेवती नामक समृद्ध श्राविका रहती है उसने पेठे से और बीजौरे दो औषधिया तैयार की हैं। पहली औषधि उसने मेरे निमित्त से तैयार की है, वह मत लाना, दूसरी औषधि भिक्षा मे ले आओ, मैं स्वस्थ हो जाऊगा।

सिंह अनगार रेवती के घर पहुंचे और कहा—देवी! जो औषधि आपने प्रभु महावीर के लिये तैयार की है वह नही, दूसरी औषधि बीजौरापाक दे दीजिए। रेवती इस घटना से अत्यन्त प्रभावित हुई उसने बीजौरापाक दे दिया, उस का आहार करते ही भगवान् सर्वथा स्वस्थ हो गये और रेवती भी इस औषधिदान से देवलोक की अधिकारिणी वन गई।

जमालि पथभ्रष्ट हुआ :

भगवान् महावीर जब तेईसवा वर्षावास पूर्ण कर ब्राह्मण कुण्डपुर मे पधारे थे तब महावीर प्रभु द्वारा आज्ञा प्राप्त न होने पर भी उसने स्वेच्छा से भगवान् का साथ छोड़ दिया था और वह तब से स्वतन्त्र विहार कर रहा था।

इन दिनो जमालि अनगार अत्यन्त अस्वस्थ थे वे श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे ठहरे हुए थे। उन्होने शिष्यो को बिस्तर बिछाने की आज्ञा दी। जमालि अनगार अत्यधिक अस्वस्थता के कारण खडे रहने मे भी असमर्थ थे, अत उन्होने बिस्तर बिछाते हुए शिष्यो से पूछा 'क्या बिस्तर बिछा दिया गया है ?' शिष्यो ने कहा—गुरुदेव ! बिछा दिया। बिछौना अधूरा देखकर बिछा तो नही, बिछा रहे हैं। कुछ ही क्षणो के बाद जमालि लेट तो गए, परन्तु सोचने लगे भगवान महावीर तो किए जाने वाले कार्य को किया हुआ (करेमाणे कडे) कहते है, यह सिद्धान्त ठीक नही। जब तक क्रिया समाप्त न हो जाय तब तक उसे किया हुआ कैसे कहा जा सकता है।' उसने भगवान के मत का विरोध आरम्भ कर दिया।

उसके अनेक शिष्यो ने समझाया भी कि 'भगवान् महावीर का 'किए जाने वाले कार्य को किया हुआ' कहने का सिद्धान्त निश्चयनय की दृष्टि से ठीक है क्योकि निश्चयनय 'कार्य के होने के काल मे और पूर्ण हो जाने के काल मे अभिन्नता मानता है, परन्तु जमालि अपने आग्रह पर दृढ रहा।

भगवान महावीर विहार करते हुए चम्पा पहुंच चुके थे। जमालि भी स्वस्थ होकर चम्पा आ गया। उसने भगवान् के पास पहुंच कर कहा कि "मैं भी केवलज्ञानी होकर विचरण कर रहा हू।"

भगवान् महावीर ने कहा—देवानुप्रिय ! केवलज्ञान कोई ऐसी वस्तु नही है जिसके होने की घोषणा केवली को स्वय करनी पडे। उसी समय श्री गौतम जी ने जमालि से कुछ दार्शनिक प्रश्न भी किए जिन का वह उत्तर न दे सका, अत उन प्रश्नो का समाधान भगवान को ही करना पडा। जमालि अपने आग्रह पर दृढ रहा और वहा से चला गया।

प्रियदर्शना जो गृहस्थ अवस्था मे जमालि की पत्नी थी वह भी कुछ दिन जमालि के सिद्धान्त पर विश्वास करती रही परन्तु एक दिन वह श्रावस्ती मे अपने साध्वी सघ के साथ ढक नामक कुम्हार की भाण्डशाला में ठहरी। ढक ने जान बूझ कर उनके वस्त्र पर चिंगारी

फेंकदी तो प्रिय दर्शना कह उठी—मेरा वस्त्र जल गया, मेरा वस्त्र जल गया। तभी ढक ने कहा—'आर्या जी, वस्त्र जल रहा है आप इसे "जल गया" क्यो कह रही हो। प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हुई और वह पुनः भगवान् महावीर के श्रमणी सघ मे लौट आई।

भगवान महावीर वर्षावास के लिये मिथिला पहुंच गए।

तीर्थङ्कर जीवन अट्ठाईसवां चातुर्मास :

वर्षावास की पूर्णता पर भगवान् ने कोशल देश की ओर विहार कर दिया। इन्द्रभूति गौतम कुछ आगे निकल गए और वे पहले ही श्रावस्ती के कोष्टक उद्यान मे ठहर गए।

उन दिनो भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के महाश्रमण केशी-कुमार भी श्रावस्ती के तिन्दुकोद्यान मे ठहरे हुए थे। दोनो मुनीश्वरों के शिष्य आचार-विचार की भिन्नता देखकर सोचने लगे यह विभिन्नता क्यो है ? गौतम स्वामी निरभिमानी एवं सरल प्रकृति के मुनिवर थे, अतः वे शिष्यो की जिज्ञासाओ की शका-निवृत्ति के लिये अपने शिष्य समुदाय के साथ स्वय ही तिन्दुकोद्यान में चले गए। मुनिराज केशिकुमार जी ने उनका यथोचित सत्कार किया। दोनो स्थविरो मे ज्ञान-चर्चा आरम्भ हुई। मुख्य प्रश्न था—चार महाव्रतो का और पाच महाव्रतो का। भगवान् पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को ही स्थान दिया था। भगवान् महावीर ने उसमे ब्रह्मचर्य को और जोड कर पाच-महाव्रतों के पालन का विधान किया है। केशीकुमार के पूछने पर गौतम स्वामी ने बताया कि 'अब लोग प्रायः जड वक्र है, अतः धार्मिक आचरण मे स्पष्टता की आवश्यकता हुआ करती है। चातुर्याम धर्म के अनुसार निर्ग्रन्थ के लिये स्त्री भी एक परिग्रह ही है, किन्तु भगवान् महावीर स्त्री को पुरुष के समान अधिकार देते हैं,अत उसे परिग्रह की सज्ञा नही देते और स्त्री एवं पुरुष दोनो के लिये ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक मानते है। गौतम के इस समाधान से केशिकुमार को हार्दिक परितोष हुआ।

केशीकुमार के प्रश्नो मे एक अन्य महत्त्व पूर्ण प्रश्न था कि "गौतम आप अनेक शत्रुओ से घिरे हुए हैं, आप ने उन शत्रुओ पर कैसे विजय प्राप्त करली ?

गौतम स्वामी ने कहा—'श्रमण-श्रेष्ठ ! वासना-लिप्त आत्मा, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और पाच इन्द्रिया ये ही साधक के सबसे बडे शत्रु है। मैंने पहले एक को जीता है अर्थात् आत्म-सयम किया है। इस प्रकार एक को जीतकर प्रथम चारो शत्रुओ को जीत लिया और पाच शत्रुओ पर विजयी हो जाने पर दस शत्रु अपने आप परास्त हो जाते हैं। दस शत्रुओ पर जिसने विजय प्राप्त करली उसके लिये अन्य कोई शत्रु शेष नही रह जाता है।

कुछ अन्य महत्त्व पूर्ण प्रश्नो का समाधान पाकर केशिकुमार भी भगवान् महावीर के श्रमण सघ मे प्रविष्ट हो गए।

प्रभु महावीर भी श्रावस्ती पहुच गए। कुछ दिन वहा ठहर करके भगवान अहिच्छत्रा नगरी होते हुए हस्तिनापुर के सहस्राम्र नामक उद्यान मे ठहरे।

राजर्षि शिव को प्रतिबोध :

हस्तिनापुर मे नरेश शिव के हृदय मे वैराग्य जागा और उन्होने ज्येष्ठ-पुत्र को राज्य देकर स्वय तापस प्रव्रज्या धारण कर तप करना आरम्भ कर दिया। तप के प्रभाव से उन्हे जो ज्ञान-दृष्टि उपलब्ध हुई उसके अनुसार वे इस निश्चय पर पहुचे कि सात द्वीप और सात ही समुद्र है और वे इसी बात का प्रचार हस्तिनापुर मे भी करने लग गए।

इन्द्रभूति गौतम जब भिक्षा के लिये नगर मे गए तो उन्होने राजर्षि शिव की बात सुनी। इस बात को उन्होने प्रभु महावीर के समक्ष प्रवचन के समय रखा और भगवान ने धर्म-सभा मे प्रवचन करते हुए कहा—'द्वीप और समुद्र सात ही नही, असख्य है।

जब महर्षि शिव को यह ज्ञात हुआ तो वे भी भगवान के पास अपनी शकाओ का समाधान करने के लिये आए। यहा वे भगवान् का वैराग्यमय सत्यनिष्ठ प्रवचन सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और विधि-पूर्वक वन्दना करके बोले—भगवन ! 'मुझे भी निर्ग्रन्थ-मार्ग की दीक्षा देकर अनुगृहीत करे। भगवान ने उन्हे दीक्षित किया और वे सयम पूर्वक तपस्यामय जीवन व्यतीत करने लगे।

यहा से भगवान् मोका नगरी पधारे और अनेक स्थानो को पावन

करते हुए वे पुनः वाणिज्य ग्राम आ गए और यही पर उन्होने वर्षावास किया।

तीर्थङ्कर जीवन : उनत्तीसवां चातुर्मास :

वाणिज्यग्राम के वर्षावास की पूर्णता पर भगवान राजगृह के गुणशील उद्यान मे पहुचे। यहा पर उन्होने अन्य मतावलम्बियो की धारणाओ के सम्बन्ध मे गौतम के हृदय मे उठे अनेक प्रश्नो के समाधान किये। विशेषत गौतम का प्रश्न था कि "जब कोई श्रावक सामायिक की आराधना करता है तब वह जीव-अजीव सभी से अपना ममत्व सम्बन्ध तोड देता है, अर्थात् ममत्व के परित्याग का प्रयत्न करता है, अत उसका किसी से कोई सम्बन्ध नही रह जाता। ऐसी दशा मे भी सामायिक व्रत के अनन्तर क्या उसका स्वामित्व उन पर बना रहता है?' भगवान् ने कहा—'गौतम! सामायिक की अवस्था मे उस का सम्बन्ध टूट जाता है क्योकि वह उस समय उनके उपभोग से रहित हो जाता है, फिर भी उसका वस्तु-स्वामित्व समाप्त नही होता।

भगवान ने इस वर्ष का चातुर्मास भी राजगृह मे ही किया और अनेक साधुओ ने राजगृह के विपुल पर्वत पर अनशन करके सिद्धत्व प्राप्त किया।

तीर्थङ्कर जीवन : तीसवां चातुर्मास :

चातुर्मास की पूर्णता पर भगवान महावीर चम्पा के उपनगर पृष्ठचम्पा मे ठहरे। पृष्ठचम्पा के अधिपति राजा शाल और उनका छोटा भाई महाशाल भी प्रवचन सुनने आए थे। प्रवचन-प्रभाव से उनकी प्रसुप्त वैराग्य-भावना जाग उठी और महाराज शाल ने छोटे भाई को भी आर्हती दीक्षा के लिये प्रस्तुत देख कर अपने भानजे गागली को राज्यभार सौंपा और दोनो भाइयो ने प्रभु-चरणो में पहुंच कर निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण कर आत्मोद्धार की साधना आरम्भ कर दी।

कामदेव की धर्मनिष्ठा :

भगवान चम्पा के पूर्णभद्र उद्यान मे पहुंचे। आज के प्रवचन मे श्रावक कामदेव भी आया हुआ था। भगवान ने उससे पूछा—'कामदेव!

विगत रात्रि मे पौषधशाला मे पौषध करते हुए क्या तुम्हे अनुभव हुआ कि कोई देव पिशाच, हाथी और सर्प का रूप धारण करके मुझे साधना से विचलित करना चाहता है, परन्तु तुम अपने साधना-मार्ग से नाममात्र भी विचलित नही हुए। कामदेव ने साश्चर्य कहा—'भगवन्! आप ठीक कह रहे हैं।' भगवान ने कहा—'मुनिवृन्द! यह एक गृहस्थ श्रावक है, इसने कभी भी किसी भय से अपने साधना-मार्ग का परित्याग नही किया तो तुम विरक्तो को तो किसी भी दशा मे सयम-साधना से विचलित नही होना चाहिए।

दशार्णभद्र राजा की दीक्षा :

चम्पा से भगवान् सुदीर्घ यात्रा करते हुए दशार्णपुर पहुचे।[1] दशार्णभद्र अपनी पाच सौ रानियो एव अपार वैभव के प्रदर्शन के साथ प्रभु के दर्शनार्थ आ रहा था। उसके मन मे अपने वैभव का अहकार जाग रहा था। तभी उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो इन्द्र भी अपने अद्भुत एव अपार वैभव के साथ दर्शनार्थ आ रहा है। इन्द्र के वैभव को देख कर उसे अपना वैभव अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगा, अत. उसे उस तुच्छ वैभव से विरक्ति हो गई और उसने भगवान के प्रवचन सुनने के अनन्तर प्रभु के वरद हस्त से पावनी आर्हती दीक्षा स्वीकार कर ली।

सोमिल भी दीक्षा के महापथ पर :

भगवान् दशार्णपुर से पुन. विदेह की ओर लौटे और वाणिज्य ग्राम मे पधारे और इस वार वे दूतिपलासचैत्य उद्यान मे ठहरे। वाणिज्य ग्राम का एक विद्वान् ब्राह्मण सोमिल भी प्रभु के पास आया और उसने भगवान से अनेक प्रकार के प्रश्न किए। उसका प्रमुख प्रश्न था—'भगवन् आपके सिद्धान्त मे क्या यात्रा, यापनीय अव्यावाघ और प्रासुक विहार है ?'

भगवान ने उत्तर दिया 'सोमिल तप, नियम-सयम स्वाध्याय और ध्यान आदि के लिये उद्यम करना ही मेरी यात्रा है। इन्द्रियो को वश मे रखना यह मेरा 'इन्द्रिय-यापनीय' है और क्रोध, मान, माया और

---

१ दशार्णपुर आधुनिक भूपाल के पास विदिशा नामक नगर।

लोभ मैं इन्हे अपने पास नही आने देना, यही मेरा नो-इन्द्रिय-यापनीय' है। अपने शरीर मे वात-पित्त एवं कफ आदि के कारण उत्पन्न रोगो से शरीर को मुक्त रखना यही मेरा अव्यावाध है और विरक्त साधु के योग्य स्थानो मे निर्दोष शय्या सस्तारक आदि स्वीकार करना यही मेरा प्रासुक विहार है।

सोमिल ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया—"भगवन् ! आप एक है या दो ? क्या आप अक्षय, अव्यय एव अवस्थित है ? क्या आप भूत, वर्तमान और भविष्यत काल के अनुरूप अनेक है ?"

भगवान ने अनेकान्तवाद से उत्तर दिया—'सोमिल ! मै आत्मा की दृष्टि से एक हू, मैं ज्ञान-दर्शन रूप से दो भी हू। मैं आत्म-प्रदेशो की अपेक्षा से अव्यय, अक्षय एव शाश्वत भी हू। उपयोग की दृष्टि से परिवर्तनशील होते हुए अनेक भी हू।

इस प्रकार के अनेक प्रश्नो के उत्तर पाकर सोमिल के हृदय मे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति अपार श्रद्धा जागृत हुई और वह भी प्रभु का शिष्य बन कर साधना-मार्ग मे प्रवृत्त हो गया।

भगवान ने यह चातुर्मास वाणिज्यग्राम मे ही व्यतीत किया।

तीर्थङ्कर जीवन : इकत्तीसवां चातुर्मास

चातुर्मास की पूर्णता पर भगवान महावीर साकेत एव श्रावस्ती आदि नगरो को स्पर्शना करते हुए काम्पिल्य नगर[1] के बाहर सहस्राम्र वन मे ठहरे।

गौतम स्वामी जब आहार-पानी के लिये नगर मे गए तो उन्होने सुना कि अम्बड नामक परिव्राजक जो सात सौ शिष्यो का गुरु है वह एक साथ सौ घरो मे भोजन करता है। इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् से पूछा तो 'उन्होने बताया अम्बड निरन्तर षष्ठभक्त तप करता है और उसने तपस्या के द्वारा "वैक्रिय लब्धि" नामक सिद्धि प्राप्त कर ली है।

---

१. यह विहार मे फर्रुखाबाद से पच्चीस मील उत्तर-पश्चिम की ओर बूढी गगा के किनारे कपिला नाम से आज भी विद्यमान है। उस समय यह नगर दक्षिण पाचाल की राजधानी के रूप मे था।

उसके बल पर वह एक साथ सौ रूप धारण करके सौ घरो मे भोजन कर लेता है। वह स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य और स्थूल अस्तेय का त्यागी एव विरागी पूर्ण ब्रह्मचारी है, वह श्रावक-धर्म का पूर्ण रूप से पालन करता है। वह मृत्यु के अनन्तर ब्रह्म देवलोक में जाएगा और फिर मनुष्य जन्म-धारण कर महाविदेह क्षेत्र मे निर्वाण प्राप्त करेगा।

काम्पिल्यपुर से प्रभु पुन. विदेह की ओर लौट पडे और उन्होने इस वर्ष का वर्षावास वैशाली मे किया।

तीर्थङ्कर जीवन : बत्तीसवां चातुर्मास

वैशाली के वर्षावास की पूर्णता पर भगवान महावीर काशी कौशल आदि प्रान्तो मे विचरण करते हुए ग्रीष्म काल मे वाणिज्य ग्राम के दूती पलास चैत्य नामक उद्यान मे ठहरे। यहा उनके पास भगवान पार्श्वनाथ का अनुयायी एक गागेय नामक साधु आया और उसने भगवान् से अनेक प्रश्न किए। उसका एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि—"आप जो कुछ कहते हैं उसे आत्म-प्रत्यक्ष करके कहते है-या किसी अनुमान आदि प्रमाण से, अथवा किसी शास्त्र के आधार पर कहते हैं ?

महावीर का उत्तर था—'गागेय! मेरे प्रत्येक वक्तव्य का आधार मेरा 'आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान' है, क्योकि केवलज्ञान के द्वारा सब कुछ आत्म-प्रत्यक्ष किया जा सकता है।"

गागेय अपने प्रत्येक प्रश्न का यथार्थ एव बुद्धि-सगत उत्तर पाकर प्रभु का शिष्य बनकर अपना साधना-पथ प्रशस्त करने लगा। भगवान ने इस वर्ष का चातुर्मास वैशाली मे जाकर व्यतीत किया।

तीर्थङ्कर जीवन : तेंतीसवां चातुर्मास

वैशाली के चातुर्मास की पूर्णता पर भगवान शीतकाल मे मगध की भूमि पर ही विचरण करते रहे और वे पुन राजगृह के 'गुणशील चैत्य'-नामक उद्यान मे पधारे।

राजगृह मे उस समय विभिन्न धर्मावलम्बी आचार्य एव उनके अनुयायी थे। इन्द्रभूति गौतम अन्य धर्मों की जो मान्यता सुनते वे उसके विषय मे भगवान् से पूछकर वास्तविकता को प्राप्त कर लेते थे। एक जीवनोपयोगी प्रश्न इस प्रकार था—

'भगवन्! कुछ आचार्य कहते है शील अर्थात् सदाचार श्रेष्ठ है, कुछ कहते है श्रुत अर्थात् ज्ञान श्रेष्ठ है, कुछ दोनो को श्रेष्ठ कहते हैं? प्रभो! वास्तविकता क्या है?

भगवान का उत्तर था—गौतम चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं।

१. कुछ शील सम्पन्न होते हैं, परन्तु श्रुत-सम्पन्न नही होते।

२ कुछ श्रुत सम्पन्न होते हैं, परन्तु शील सम्पन्न नही होते।

३ कुछ शील सम्पन्न भी होते हैं, श्रुत सम्पन्न भी।

४ कुछ न शील सम्पन्न होते हैं और न श्रुत सम्पन्न ही।

इन मे प्रथम व्यक्ति देशाराधक अर्थात् धर्म के एक अग का पालन करता है। दूसरा व्यक्ति देशविराधक अर्थात् धर्म को समझता तो है किन्तु धर्मका पालक नही माना जा सकता, तीसरा व्यक्ति सम्पूर्ण धर्म का साधक होता है और चौथा व्यक्ति किसी भी दृष्टि से धर्म की आराधना करनेवाला नही माना जा सकता।

राजगृह के श्रावक श्रेष्ठ मद्दुक ने अन्य धर्मावलम्बियो को जब भगवान् महावीर के सिद्धान्त समझाए तो भगवान् ने उसकी समस्त बातो का समर्थन करते हुए कहा—किसी भी प्रश्न का उत्तर बिना सोचे-समझे नही देना चाहिए, बिना सोचे-समझे बोलनेवाला व्यक्ति केवली भगवान की वाणी का निरादर करता है।'

इस वर्ष का चातुर्मास भगवान् ने राजगृह मे ही प्रवचनामृत की वर्षा करते हुए पूर्ण किया।

तीर्थङ्कर जीवन चौंतीसवां चातुर्मास

राजगृह के वर्षावास के अनन्तर कुछ दिन तक भगवान् महावीर इधर-उधर विचरण करते रहे। चम्पा की ओर जाते हुए मार्ग मे शाल और महाशाल नामक मुनियो ने भगवान से अपने ससारी पक्ष के भानजे को प्रतिबोध देने की आज्ञा मागी। भगवान् ने गौतम के साथ उन्हे वहा जाने की आज्ञा दे दी। पृष्ठचम्पा पहुच कर उन्होने दर्शनार्थ एव प्रवचन सुनने के लिये आए हुए गागलि को जब उपदेश दिया तो वह भी अपने पिता पिठर और माता यशोमती के साथ विरक्त होकर गौतम स्वामी का शिष्य बनकर भगवान् की शरण मे आ पहुचा।

मार्ग मे नालन्दा के निकट हस्तियाम नामक उद्यान मे उदक नामक पार्श्वापत्य साधु रहते थे। उन्होने इन्द्रभूति गौतम के समक्ष अनेक प्रकार की धार्मिक जिज्ञासाए उपस्थित की और भगवान महावीर के अनन्योपासक गौतम से सब प्रश्नो के सम्यक् समाधान पाकर वह भी भगवान् महावीर का शिष्य बन गया।

इस वर्ष का चातुर्मास नालन्दा मे व्यतीत हुआ।

तीर्थङ्कर जीवन : पैंतीसवां चातुर्मास

वर्षावास की पूर्णता पर भगवान शिष्य-मण्डली सहित धर्म-प्रचार करते हुए वाणिज्यग्राम मे पधारे और दूतीपलासचैत्य नामक उद्यान में उन्होने कुछ दिन प्रचार किया। वाणिज्यग्राम के प्रसिद्ध सेठ सुदर्शन ने भगवान् से काल-विषयक अनेक प्रश्न किए जिनका उत्तर पाकर उसका मस्तक प्रभु-चरणो मे झुक गया। भगवान् ने सुदर्शन सेठ को पूर्व जन्मो का ज्ञान कराया तो सुदर्शन सेठ को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, उसने अपने पूर्वजन्मो के साधु-जीवन और देवलोको के जीवन को जानकर भरी सभा मे प्रभु से दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। यह दीक्षित होकर भगवान् का शिष्य बन गया।

वाणिज्य ग्राम मे श्रमणोपासक आनन्द के अवधिज्ञान पर गौतम को सन्देह हुआ और भगवान महावीर ने गौतम के सन्देह की निवृत्ति करते हुए कहा—'गृहस्थ जीवन मे भी विधिवत् धर्म-मर्यादाओ का पालन करता हुआ श्रावक आनन्द जैसा व्यक्ति 'अवधिज्ञान' प्राप्त कर सकता है। गौतम जी ने आनन्द श्रावक से क्षमा याचना की और अब प्रभु महावीर वैशाली की ओर चल पडे। वर्षावास वैशाली मे ही सम्पन्न हुआ।

तीर्थङ्कर जीवन : छत्तीसवां चातुर्मास

वैशाली के वर्षावास की समाप्ति पर प्रभु-पद कोशल की ओर बढे और कुछ ही दिनो मे उन्होने साकेत[1] का स्पर्श किया।

साकेत निवासी जिनदेव नामक श्रावक म्लेच्छो के देश के भीतर

---

१. आधुनिक अयोध्या नगरी

कोटि वर्ष नामक नगर मे पहुचा और वहा के किरात राजा को उसने अनेक बहुमूल्य रत्न भेंट किए। किरातराज रत्नो को देखकर अत्यन्त हर्षित हुआ और बोला—"ऐसे रत्न कहा उत्पन्न होते है ?"

जिनदेव ने अपने देश भारत का नाम लिया तो किरात राज भारत मे आने को प्रस्तुत हो गया। जिनदेव साकेत नरेश से आज्ञा लेकर किरातराज को साकेत ले आया। सौभाग्य से किरातराज जिनदेव के साथ भगवान के समवसरण मे भी आ पहुचा और भगवान से ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूप महारत्नों का परिचय प्राप्त कर कृत-कृत्य हो गया और उसने भी भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर रत्न-त्रय की सम्यक् आराधना आरम्भ कर दी।

यहा से प्रभु महावीर काम्पिल्य होते हुए मथुरा आए और शौर्यपुर नन्दीपुर आदि की स्पर्शना करते हुए मिथिला आए। वर्षावास का सौभाग्य मिथिला को ही प्राप्त हुआ।

तीर्थङ्कर जीवन : सैंतीसवां चातुर्मास

वर्षावास की पूर्णता पर भगवान की विहार-यात्रा आरम्भ हो गई और वे साधु-मण्डल के साथ राजगृह के गुणशील चैत्य नामक उद्यान मे पधारे। यहा अनेक धर्मावलम्बियो ने भगवान से बोध प्राप्त किया। इसी वर्ष अनगार कालोदायी ने षष्ठ भक्त अष्टम भक्त आदि तपस्याएं करके निर्वाण प्राप्त किया। गणधर प्रभास भी एक मास का अनशन करके निर्वाण-प्राप्ति मे सफल हुए। अनेक साधुओ ने विपुलाचल पर अनशनपूर्वक देह त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया। वर्षावास के लिये भी राजगृह मे ही महावीर ठहरे रहे।

तीर्थङ्कर जीवन : अठतीसवां चातुर्मास

वर्षावास की समाप्ति पर भी भगवान मगध मे ही विचरण करते रहे और वर्षाकाल मे राजगृह मे लौट आए।

यहां पर गौतम स्वामी ने भगवान से क्रियाकाल, निष्ठाकाल, परमाणु-सयोग, भाषा-ज्ञान, क्रिया की दु खात्मकता दुख की अकृत्रिमता आदि विषयो का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया।

गणधीर अचल भ्राता और गणधर मेतार्य गुणशील चैत्य मे ही मासिक अनशन करके मोक्षगामी बने। भगवान वर्षावास के लिये नालन्दा मे पधारे और इस वर्षावास ने नालन्दा को पावन किया।

तीर्थङ्कर जीवन . उनतालीसवां चातुर्मास

वर्षावास की पूर्णता पर प्रभु के पावन चरण विदेह की ओर बढे। मिथिला पहुचने पर महाराज जित शत्रु ने आपका अभिनन्दन वन्दन किया। मणिभद्र चैत्य मे प्रतिदिन प्रवचन होने लगे। महाराज जित-शत्रु महारानी धारणी के साथ प्रतिदिन प्रवचन सुनने के लिये आया करते थे।

यहा पर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से खगोल सम्बन्धी अनेक प्रश्न किये जिनका उत्तर भगवान् ने प्रत्यक्ष दर्शी की तरह ही दिया जो चन्द्र-प्रज्ञप्ति और सूर्य-प्रज्ञप्ति जैसे ग्रन्थो मे विद्यमान है। वर्षावास मिथिला मे रहा।

तीर्थङ्कर जीवन : चालीसवां वर्ष

वर्षावास के अनन्तर प्रभु विदेह मे ही विचरण करते रहे और इस वर्ष की चातुर्मासिक साधना भी उन्होने पुन. मिथिला मे ही की।

तीर्थङ्कर जीवन : इकतालीसवां चातुर्मास

मिथिला मे भगवान महावीर पुन. मगध की भूमि पर पधारे और और राजगृह के गुणशील चैत्य मे ही पहुच गए। वहां पर भी गौतम जी ने प्रभु मे अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त किया। इसी वर्ष मे अग्नि भूति एव वायुभूमि नामक भगवान के गणधरो ने गुणशील चैत्य मे ही अनशन करके मोक्ष-पद पाया।

चातुर्मास के अनन्तर भी भगवान वही ठहरे रहे। इसी बीच उनके अन्य गणधर, अव्यक्त स्वामी मण्डिक, स्वामी, मौर्य पुत्र और अकम्पित स्वामी ने भी मासिक अनशन पूर्वक सिद्धत्व प्राप्त किया।

गौतम स्वामी को भगवान ने दुषमदुषमाकाल का विस्तृत परिचय दिया और भारत के भविष्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया। अन्य काल-व्यवस्थाओं का भी परिचय दिया और कालचक्र पर विजय पाने के अमोघ साधन धर्माराधना को बताया।

अब भगवान महावीर अन्तिम चातुर्मास के लिये पावापुरी की ओर जा रहे थे, मानो सूर्य अस्ताचल की ओर प्रस्थान करने को प्रस्तुत था। पावापुरी की ओर बढते प्रभु-चरणो में शत-शत प्रणाम कर विराम ले रही है मेरी लेखनी।



पद्म-वन-दीर्घिकाकुल-विविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितो मुनिः ॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं संप्रापदजरामराक्षय सौख्यम् ॥

पद्म-समूहो से युक्त दीर्घिका अर्थात् बावड़ी से एव अनेक प्रकार के वृक्षो से मण्डित पावानगर के उद्यान मे आप व्युत्सर्ग तप मे स्थित थे, तब कार्तिक कृष्णा के अन्त में(कार्तिक कृष्ण अमस्या में) स्वाति नक्षत्र मे, अवशिष्ट कर्म-धूलि को साफ करके अघातिया कर्मों का नाश करके आपने अविनाशी अजरामर पद प्राप्त किया ।



निर्वाण कल्याणक

श्री मुनि नेमिचन्द्र जी

निर्वाण-कल्याणक

० ५ ०

निर्वाण-भूमि की ओर बढ़ते चरण

तीर्थङ्कर भगवान महावीर ने विभिन्न जनपदो मे विचरण करते हुए अपने तीर्थ ङ्कर जीवन का अन्तिम चातुर्मास (४२वा वर्षावास) करने के लिये मध्यमा पावापुरी के राजा हस्तिपाल की पुरानी रज्जुकसभा[1] अर्थात् लेखपाल-शाला मे पधारे। यह वही नगरी थी जहा पर भगवान महावीर द्वारा धर्मसघ (तीर्थ) की स्थापना हुई थी, जहा उनके पास ११ गणधर अपने शिष्यो सहित दीक्षित हुए थे। हस्तिपाल राजा तो तीर्थ-स्थापना के समय से ही भगवान महावीर के प्रति भक्तिविभोर हो चुका था, अत. उसने अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ अपनी लेखपाल-शाला मे तीर्थङ्कर भगवान महावीर को वर्षावास के लिये स्थान दिया। लेखपालो का यह कार्यालय बहुत विशाल था।

निर्वाण से पूर्व की स्थिति

एक-एक करके वर्षाकाल के तीन महीने भी व्यतीत हो चुके थे और चौथा महीना लगभग आधा बीतने को आया था। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी का प्रात काल का समय था। पाक्षिक दिन होने के कारण प्रात:काल ही भगवान महावीर के अनन्य श्रमणोपासक, काशी-कोशल के मल्लवीगण के ९ एवं लिच्छवीगण के ९, कुल अठारह राजा[2] पौषध करने लिये आ पहुचे थे। मालूम होता है कि उस समय भगवान के दर्शनार्थ और भी श्रद्धालु जन-समूह उपस्थित होगा। इन राजाओ के

---

१. रज्जुगा-लेहगा तेसि सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाणा करणमाला।
कल्पसूत्र चूर्णि १२२

२ कल्पसूत्र चूर्णि १२७

साथ इनके अमात्य एव भृत्यगण भी होगे। इस प्रकार विशाल जनसमूह देखकर भगवान महावीर ने अपनी सुधामयी वाणी से उन राजाओ मन्त्रियो एव धनाढ्य व्यक्तियो का जीवन-परिचय दिया जिन्होंने जीवन भर अन्याय एव अनीति का प्रयोग किया, अधर्म से अपनी आजीविका की, दुर्व्यसनों मे अपना अमूल्य समय व्यतीत किया, हिंसा और दुराचार मे प्रवृत्ति की, ऐसे पचपन इतिहास सुनाए जिनका अन्तिम परिणाम अनन्त दु खपरम्परा है, क्योकि पापकर्म ही दु.खो की परम्परा बढाते हैं, वे आगे के लिये कैसे दुर्लभ बोधि बने? इस सम्बन्ध मे विश्लेषण भी किया है।

उसके बाद भगवान ने उन पचपन मानवो का परिचय दिया है जिन्होने अपना जीवन अहिंसा और सत्य-निष्ठ होकर व्यतीत किया, न्याय-नीति का अवलम्बन लिया, उच्चभावो से द्रव्य-दान दिया, गुरुवरो की उपासनाए की, जिनसे वे भविष्यत् काल मे सुख के पात्र बने और सुलभबोधि भी। इतना ही नही भगवान ने अपने मुखारविन्द से विनय आदि छत्तीस विषयो पर स्वतन्त्र देशनाए भी दी।[1]

निर्वाण के पूर्व भगवान की मनोभूमिका

भगवान महावीर का मानस पीयूषवर्षी उपदेशधारा बहाते समय अत्यन्त प्रसन्न था, वात्सल्य-रस आप्लावित था। जगत के जीवो के प्रति उनकी अपार करुणा वाग्धारा के रूप मे प्रवाहित हो रही थी। जैसे मेघ गर्मी से सतप्त पृथ्वी को अपनी जलधारा से सीच कर प्रचुर धान्य-सम्पत्ति से युक्त कर देता है, वैसे ही भगवान धर्मोपदेश रूपी जल का वर्षण करके भव्य जीवो की हृदयभूमि को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-रूपी धान्य-सम्पत्ति से युक्त कर देना चाहते थे।

जगतगुरु भगवान महावीर के प्रति इन्द्रभूति गौतम का अत्यधिक अनुराग था। एक बार वह अपने से लघु श्रमणो को केवलज्ञान की उपलब्धि होते देख कर चिन्तित हो उठे थे कि मुझे अभी तक केवल ज्ञान

---

1 इन महत्त्वपूर्ण एव जनोपयोगी देशना को गणधर सुधर्मा स्वामी ने क्रमशः दुःखविपाक और सुख-विपाक नामक सूत्रों के रूप मे और उत्तराध्ययन सूत्र के रूप मे गूथा। वे सूत्र आज भी भव्य प्राणियो को ज्ञान का प्रकाश दे रहे है।

क्यो नही हुआ ? इस पर भगवान महावीर ने केवल-ज्ञान की अनुपलब्धि का कारण बताते हुए कहा था "गौतम ! चिरकाल से तू मेरे स्नेह मे वधा हुआ है। चिरकाल से तू मेरी प्रशसा करता रहा है, सेवा करता रहा है, मेरे साथ दीर्घकाल से परिचित रहा है, मेरा अनुसरण भी करता रहा है। देव और मनुष्य के अनेक भवो (जन्मो) मे हम साथ-साथ रहे है और यहा से आयुष्य पूर्ण करके आगे भी हम दोनो एक ही स्थान पर पहुचेंगे।[1]

इसी अपेक्षा से भगवान महावीर ने अपनी अहैतुकी कृपा-दृष्टि से 'मुत्ताण मोयगाण" के अपने परम विरुद के कारण निष्पक्ष वात्सल्यवश चिन्तन किया कि—'अब मेरे निर्वाण का समय निकट आता जा रहा है। मेरे पट्ट शिष्य इन्द्रभूति गौतम का मेरे प्रति स्नेहभाव अभी तक छूटा नही है। अगर मेरे निर्वाण के बाद भी इसका प्रशस्त मोहभाव नही छूटा तो इसे केवलज्ञान उत्पन्न नही होगा।" इस कारण से पूर्व ही भगवान ने श्री गौतम स्वामी को एक सन्निकटवर्ती ग्राम मे देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिवोध देने के लिये भेज दिया। वे शीघ्र ही लौट कर अपने धर्मगुरु महावीर के चरणो मे पहुचना चाहते थे किन्तु सन्ध्या हो जाने से वही पर रुक गए।

भगवान महावीर का परिनिर्वाण

इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर निर्वाण के पूर्व सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्त होने की तीव्र दशा मे थे, परम शुक्लध्यान मे वे मग्न हो गए। निर्जल षष्ठभक्त (वेले) का तप चल रहा था, कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि का तीसरा पहर व्यतीत हो चुका था। भगवान पद्मासन से वैठे हुए एक प्रकार से विदा लेते हुए १६ प्रहर तक अखण्ड एव अविच्छिन्न रूप से जनता को अपनी अन्तिम थाती प्रदान करने के रूप मे अपनी वाग्धारा प्रवाहित कर रहे थे।[2] उस समय की उस देशना मे इतना चमत्कार था, इतना आकर्षण था कि उससे प्रभावित होकर पौषधोपवास स्थित १८ गण राजा तथा अन्य उपस्थित श्रोतागण १६ प्रहर तक उसे दत्तचित्त हो कर सुनते ही रहे।

---

१ कल्पसूत्र सू० १२६, २ उत्तराध्ययन सूत्र, भगवतीसूत्र शतक १४ उद्दे० ७

अवसर्पिणी काल के चौथे आरे की समाप्ति और पाचवें आरे का प्रारम्भ होने मे तीन साल साढे आठ महीने बाकी रहते थे। उस समय चन्द्र नामक सवत्सर चल रहा था, प्रीतिवर्धन नाम का मास था, अग्नि वेश नामक दिन था, देवानन्दा नामक रात्रि थी, उस रात्रि मे अर्थ नामक लव था, सर्वार्थ सिद्ध नामक मुहूर्त्त था और स्वाति नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग था।

ठीक इसी समय श्रमण भगवान महावीर निर्वाणपद को प्राप्त हुए, कायस्थिति और भवस्थिति से सर्वथा मुक्त हुए, ससार को त्याग कर पुनरागमन रहित सिद्धि-गति को प्राप्त हुए। जन्म-जरा-मृत्यु के बन्धनो से मुक्त हुए, परमार्थ को साध कर सिद्ध हुए, तत्त्वार्थ को जान कर बुद्ध हुए, समस्त कर्मसमूह से सर्वथा मुक्त हुए, चार अघाति कर्म जो शेष रहे थे, उनका भी सर्वथा क्षय हो गया। वे शारीरिक तथा मानसिक समस्त दु खो से रहित हो गए, किसी भी प्रकार का सन्ताप न रहने से परि-निर्वाण अर्थात् परमशान्ति को प्राप्त हुए।

ससार के इतिहास मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या का दिन सदैव सस्मरणीय रहेगा। इस दिन वह ज्ञानसूर्य विश्व-वत्सल प्रभु महावीर हमसे अलग होकर मुक्तिलोक मे जा विराजे। आज हम उनके साक्षात् तो दर्शन नही कर सकते, परन्तु उनके द्वारा धर्म-प्रवचन के रूप मे प्रसारित ज्ञान-किरणे आज भी हमारे सामने प्रकाशमान हैं।

यदि हम छोटे से वाक्य मे कहे तो जीवन का चरम लक्ष्य है निर्वाण प्राप्त करना। इसे ही प्राप्त करने के लिये साधक का प्रत्येक कदम, प्रत्येक प्रवृत्ति एव प्रतिक्षण पुरुषार्थ होना चाहिए। निर्वाण-प्राप्ति ही साधक की जीवन-दृष्टि होनी चाहिए, निर्वाण ही उसका इष्ट होना चाहिए। उसी की ओर बढते रहना साधक का कर्त्तव्य है।

निर्वाण क्या है ?

विविध दार्शनिक ग्रन्थो एव शास्त्रो में निर्वाण शब्द के लिये मुक्ति, मोक्ष, निर्याण, सिद्धि, सिद्धिगति परमात्मलीनता, पूर्णता अर्हंशून्यता आदि विविध नामो का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि निर्वाण का शब्दश अर्थ होता है—जिस में से वात (हवा) निकल जाय।[1] दीपक का बुझ जाना, दीपक का निर्वाण है। दीपक को कोई फूक मार कर बुझा देता है तो उसकी ज्योति कहां चली जाती है ? वह मिट तो नही सकती है और मिटती भी नही है, अपितु वह ससीम से असीम बन जाती है। जैनदर्शन का कहना है—दीपक का बुझ जाना उसकी ज्योति का मिट जाना नही है, रूपान्तर या परिणामान्तर हो जाना है,[2] क्योकि जो है वह मिट नही सकता, अत: जीव का निर्वाण अर्थात् शान्त हो जाना भी उसका मिट जाना—अस्तित्वहीन हो जाना नही है, अपितु विभाव-परिणति से सदा के लिये-स्वभावपरिणति को प्राप्त हो जाना ही निर्वाण है।

वैदिक शब्दो मे इसे यो कहा जा सकता है—"आत्मा का अपने अहत्व, ममत्व, देह, गेह आदि सब को खो कर महाविराट् मे मिल कर परमात्मरूप हो जाना ही निर्वाण है।"

जहा व्यक्ति विराट् मे विलीन हो जाता है, वहा उसके जीवन मे अहत्व, ममत्व, मोह, स्वार्थ, कषाय, राग-द्वेष आदि कुछ भी शेष नही रह जाता।[3] ऐसी रूप-भिन्नता को नाश नही कहा जा सकता, वह तो आत्मा का अपने विराट्-शुद्ध स्वरूप मे लीन हो जाना है। इन्द्रिया, मन, शरीर, अहकार, बुद्धि, चित्त आदि जो अनात्मभूत वस्तुए हैं, उन सब से मुक्त होकर स्व-स्वरूपावस्थान ही निर्वाण है। आचारांगसूत्र की चूर्णि मे निर्वाण का अर्थ—'अपने स्वरूप मे स्थित होना' बताया गया है।[4]

अपने स्वरूप मे स्थित होने के लिये सबसे पहले साधक को आत्मा पर लगे हुए विकारो, आवरणो एव उपाधियो से रहित होना अत्यन्त आवश्यक है।

---

१ निर्गतो वात यस्मात्तन्निर्वाणम् अथवा निवृत्तिमित प्राप्त निर्वाणम्।

२ जह दीवो निव्वाणो परिणामान्तरमिओ तहा जीवो।
भणइ परिणिव्वाणो पत्तोऽणावाह परिणाम।

३ परमात्मनि जीवात्मलय. सेति त्रिदण्डिन.।
लयो लिंगव्ययो, जीवनाशश्च नेष्यते॥"

४ 'निर्वाण आत्मस्वास्थ्ये'—आ चूर्णि ४ अ.

इसी दृष्टि से जैनदर्शन मे निर्वाण का अर्थ किया गया है—'समस्त कर्मकृत विकारो से रहित होना[1], सकल सन्तापो से रहित हो कर[2] आत्यन्तिक सुख पाना[3], समस्त द्वन्द्वो से उपरत होना।[4] क्योकि जब तक आत्मा मे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहकार, माया, राग-द्वेष आदि विकार रहेगे, तब तक निर्वाण नही हो सकेगा। निर्वाण के लिये जैन दर्शन की पहली शर्त है—'समस्त कर्मो का क्षय।'[5] क्योकि रागद्वेष आदि विकारो से कर्मबन्ध का क्षय नही होना है। दोनो मे कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। रागद्वेषादि का नाश होते ही कर्मो का क्षय हो जाता है और समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप मे अवस्थित होकर[6] परम शान्ति को प्राप्त होता है[7], फिर न तो कर्मो के कारण प्राप्त होनेवाला शरीर होता है, न नाम, रूप, आकार तथा शरीर जनित सुख-दु:ख, मोह, अहकार, जन्म-मरण, जरा, व्याधि, इन्द्रिय-जनित विषय, क्षुधा, तृषा, निद्रा, उपसर्ग, सर्दी, गर्मी आदि होते है। यही निर्वाण की वास्तविक स्थिति होगी।[8] अत्यधिक अविनाशी सुख की अवस्था ही निर्वाण है।[9]

जब शरीर ही सदा के लिये मिट जाता है, तब शरीर के कारण होने

---

१ 'निर्वाण कर्मकृतविकाररहितत्वे' आ., चूर्णि ४ अ

२ 'सकलसतापरहितत्वे'।

३ 'सकलकर्मक्षयजे आत्यन्तिके सुखे'—औप०

४ सर्वद्वन्द्वोपरतिभावे सूत्र० १, श्रु० १, अ १

५ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष.'—तत्त्वार्थ०।

६ 'पुस' स्वरूपावस्थान नेति माख्या. प्रचक्षते'

७ 'निर्वाण; शान्ति परमाम्'—गीता

८ 'रागद्वेष-मद-मोह-जन्म-जरा रोगादि दु खक्षयरूपा।
सतो विद्यमानस्य जीवस्य विशिष्टा काचिदवस्था निर्वाणम् ॥'

९ णवि दु क्ख, णवि सुक्ख, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरण, णवि जणण, तत्थेव य होइ णिव्वाण ॥
णवि इदिय-उवसग्गा, णवि मोहो, विम्हियो य णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव हवदि णिव्वाण ॥—नियमसार १७८।१७९

वाले में, मेरापन, राग, द्वेष आदि विकार तो स्वतः ही मिट जाते हैं।[1] सभी उपाधियां शरीर के 'मैं' के आसपास इकट्ठी होती है, अतः जो सर्वथा मिट जाता है, वह सभी उपाधियों से मुक्त हो जाता है। जब जन्ममरण नही होगा तो आवागमन समाप्त हो ही जायगा।[2] इसलिये जो परमहस वीतराग पुरुष अपने आपे को खो कर परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि कर लेते है, वे निर्वाण होते ही सिद्धिगति नामक स्थान मे पहुंच कर अपने आत्मस्वरूप मे सदा के लिये स्थित हो जाते हैं[3], जहा मे लौट कर वापिस नही आना होता, वहा को स्थिति शिव (निरुपद्रव), अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्यावाध और अपुनरावृत्ति है।[4] निरुपद्रव इसलिये है कि शरीर के कारण सारे उपद्रव खडे होते हैं। जब शरीर वहां है ही नही तो उपद्रव कैसा ? अचल अवस्था मौन और शान्ति की सूचक है। जहा शरीर, इन्द्रिया, मन आदि होते हैं, वही हलचल होती है, द्वन्द्व होता है, सघर्ष होता है, जहा ये सब मूर्त पदार्थ नही होते, वहा सर्वथा शून्य, मौनभाव और प्रगाढ़ शान्ति होगी, किसी भी प्रकार के वैभाविक विकल्प मन मे नही उठेगे। वह अपने आप मे परिपूर्ण और स्थिर होगा। इसी निष्कम्प अवस्था को जैनदर्शन ने[5] शैलेशी अवस्था बताया है। इस अवस्था मे भीतर सन्नाटा छा जाता है, जितनी भी हलचल होती है वह तो बाहर ही होती है। यहा बिल्कुल निर्वातता हो जाती है, तब केवल ज्ञानमात्र ही शेष रहता है, वही केवल ज्ञान है[6]। न वहा ज्ञाता बचता है, न ज्ञेय पदार्थ, सिर्फ ज्ञान ही बच जाता है। वह अनन्त ज्ञान ही अपने मे दर्शन और चारित्र को समाविष्ट

१ 'निर्जितमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम्॥'

२ यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम।—गीता

३ 'अमत सति निब्बाणं पदमच्चुत'—सुत्तनिपात पारायणवग्ग

४ ''सिवमयलमरुअमणतमक्खयमव्वावाहमपुणरावत्तिसिद्धिगइ नामधेय ठाण सपत्ताण''—नमोत्थुण (शक्रस्तव) पाठ

५ जया जोगे निरुभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्म खवित्ताण सिद्धि गच्छइ नीरओ॥—दशैव० ४ अ. २४ गा.

६ निष्केवल ज्ञानम्'—निर्वाणोपनिषद्

कर लेता है। निर्वाणप्राप्त व्यक्ति सर्वज्ञ और नि सशय तो पहले से ही हो जाता है। फिर वहा केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल सौख्य और केवलवीर्य (शक्ति) ये चार सादि अनन्त के रूप मे विद्यमान रहते है, जिन्हे अनन्त चतुष्टय भी कहते है।[1] शेष अस्तित्व, अमूर्तत्व, और सप्रदेशत्व आदि जो गुण हैं, वे तो आत्मा के निजी सामान्य गुण है।

ऐसे निर्वाण मे आत्मा की स्थिति कैसी होती है? इसका पूर्णतया विवरण तो अनन्तज्ञानी पुरुष ही प्रस्तुत कर सकते है, किन्तु साधारण साधक तो उन ज्ञानी पुरुषो के वचनो के आधार पर ही निर्वाण-जन्य अपरिमित आनन्द-स्वरूपावस्थान की मस्ती का वर्णन कर सकता है। गूगे के लिये गुड की मिठास का वर्णन करने जैसा ही प्राय यह वर्णन है। इसी कारण जैनदर्शन मे मोक्ष मे मुक्तात्मा अव्याबाध बताई गई है।[2] तात्पर्य यह है कि निर्वाण हो जाने पर समस्त बाधाओ के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण वहा पूर्णरूप से प्रगट हो जाते है। निर्वाण आत्मा की परिपूर्ण विकास दशा है।

परन्तु उसका कथन शब्दो से पूर्णतया नही हो सकता[3], न किसी इन्द्रिय के द्वारा उसे ग्रहण किया जा सकता है[4], इसीलिये उसे विविध दर्शन अनिर्वचनीय, अव्याकृत और अमूर्त होने के कारण अग्राह्य कहते है।[5]

निर्वाण होने पर जो स्थान आत्मा को स्वाभाविकतया ऊर्ध्वगमन के कारण प्राप्त होता है, उसे जैन शास्त्रो मे सिद्धशिला, गीता मे परमधाम, मोक्ष, मुक्तिस्थान आदि विविध नामो से पुकारा गया है।

---

१ विज्जदि केवलणाण केवलसोक्ख च, केवलवीरिय।
केवलवोहि अमुत्त अत्थित्त सप्पदेसत्त ॥ नियमसार १८१

२ अव्वावाह अवट्ठाण—(अव्याबाध व्याबाधावर्जितमवस्थान जीवस्याऽसौ मोक्ष।—अभि रा खड १ पृ ४९१

३ 'सव्वे सरा नियट्टति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया, उवमा न विज्जए, अरूवीसत्ता, अपयस्स पय णत्थि।' आचा १।५।६।१७१

४ 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—तैत्तरीय २।९

५ 'न चक्षुषा गृह्यते, नाऽपि वाचा—मु डक

वास्तव मे निर्वाण आत्मा के परिपूर्ण विकास का नाम है, इसमे कोई सन्देह नही। इसी कारण साधक के लिये जीवन का अन्तिम लक्ष्य, अन्तिम इष्ट और चरम प्राप्तव्य यदि कोई हो सकता है तो वह निर्वाण ही है। जहा उसे इतने अनन्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, वहा उसे सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशक पदार्थो की जरूरत नही रहती[1], न पृथ्वी, पानी, हवा आदि की ही जरूरत रहती है[2], क्योकि वहा सिर्फ ज्योतिर्मय चैतन्य है, शुद्ध आत्मद्रव्य है, शरीर का सर्वथा अभाव ही है।

भगवान के निर्वाण के समय गौतम स्वामी को मनःस्थिति और केवलज्ञान की उपलब्धि

भगवान महावीर से दूर वैठे गौतम स्वामी ने कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात को उनके निर्वाणोपलब्धि के समाचार सुने तो वे क्षणभर के लिये तो एकदम स्तब्ध से रह गए।[3] अपने धर्मगुरु महावीर के वियोग के समाचार जानकर उनके हृदय को गहरा धक्का लगा। वे भाव-विह्वल होकर सिसकिया भरने लगे और कहने लगे—

"प्रभो ! निर्वाण-दिवस का समय निकट जान कर आपने मुझे किस कारण दूर भेजा ? क्या मैं आपके निर्वाण मे वाधक वनता ? हिस्सा वटा लेता ? इतने समय तक मैं आपकी सेवा करता रहा, फिर भी अन्तिम समय मे आपने मुझे दर्शनो से वचित क्यो रखा ? अगर इस अकिंचन को भी मोक्ष मे साथ ले जाते तो क्या वहा जगह सकडी हो जाती ? प्रभो ! कुछ समझ मे नही आता कि आपने अपने सेवक और प्रिय शिष्य को अन्तिम समय मे अपनी पावन दृष्टि से ओझल क्यो कर दिया ? मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया था ? जिससे आपने मुझे अपने पास नही रहने दिया। अव मुझे 'गोयम !' कह कर कौन सम्बोधन

१ न तद् भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावक ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परम मम ॥—गीता १५।६

२ जत्थ आपो न पुढवी, तेजो वायो न गावति। न तत्थ सुक्का जोवति
आदिच्चो न पकासति। न तत्थ चदिमा भाति, तमो तत्थ न विज्जति।
उदान० १।१०

३ कल्पसूत्र सूत्र १२३, कल्पसूत्र स० १२६, कल्पसूत्र सू० १४६

करेगा? कौन मेरी शकाओ का आत्मीयभाव से समाधान करेगा? लोक मे फैलते हुए मिथ्यात्व के अन्धकार को कौन रोकेगा?

गौतम कुछ क्षणों तक इस प्रकार के विचारो मे डूबते-उतराते रहे, फिर अचानक ही उनके विचारो का प्रवाह बदला—"अरे! मै यह क्या सोच रहा हूँ, प्रभु तो वीतराग थे। जिनका नाम ही वीतराग है, वे किसी पर क्यो राग, मोह द्वेष आदि करेंगे? मैं भ्रम मे था, मैं ही उन पर मोह रख रहा था, वे तो मोह-मुक्त थे।" यह जानकर उन्होने आत्मा मे अवधिज्ञान का प्रयोग किया और अवधिज्ञान के प्रकाश में अपने आपको मोह-युक्त पाकर धिक्कारा तथा मोहवश वीतराग को उपालम्भ देने के अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना करके पश्चात्ताप किया और फिर शुक्ल ध्यान मे प्रविष्ट होकर आत्मचिन्तन करने लगे—

एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्स वि।
एवमप्पाण मणसा अदीणमणुसासए॥

मैं अकेला हू, वास्तव मे मेरा कोई नही है और न मैं किसी का हू, इस प्रकार मन से विचार करके अदीन आत्मा पर अनुशासन करना चाहिए।[1]

इस प्रकार चिन्तन करते-करते उन्होने चार घाती कर्मो को नष्ट कर डाला। वे राग की कडी तोडते ही उसी क्षण वीतराग बन गए, उन्हे केवल ज्ञान और केवल-दर्शन उपलब्ध हो गया।

यह था भगवान महावीर के निर्वाणवादी होने का प्रत्यक्ष प्रमाण, उन्होने अपने निर्वाण-दीप को जलाने के साथ अनेको मुमुक्षुओ के निर्वाण-दीप भी आलोकित कर दिये।

निर्वाण के बाद देवो का आगमन और पार्थिव शरीर का दिव्य संस्कार

भगवान महावीर के निर्वाण के कारण पावापुरी धन्य हो उठी, पावापुरी का नाम अमर हो गया। देवी-देवो ने जब यह जाना कि तीर्थङ्कर महावीर को निर्वाण प्राप्त हो गया है, तो वे वहा से अपने

---

१ कल्पसूत्र पृ० २८३।

अपने विमानो मे बैठ कर पावापुरी को ओर चल पडे। देवीदेवो के आवागमन के कारण वहां दिव्य प्रकाश हो उठा। सारी पावापुरी प्रकाश से जगमगा उठी। जहा देखो, वही देव-देवियो का मेला सा लग गया। देव-देवियो और मानवो के अपार जमघट के कारण सारी पावापुरी गूज उठी। जहा देखो वही भगवान महावीर के निर्वाण की चर्चा हो रही थी।

देवो ने मिलकर निर्वाण-प्राप्त भगवान महावीर के पार्थिव शरीर का दिव्य सस्कार किया। सबने प्रभु के भव्यगुणो की परिपूर्ण स्तुति की।

देवों और मानवो द्वारा निर्वाण-कल्याणक उत्सव

जिस रात्रि मे भगवान् ने निर्वाण प्राप्त किया, उस रात्रि को काशी-कौशल देश के नौ मल्लवी और नौ लिच्छवीवशीय गण राजा पौषध मे थे। उन्होने तथा वहा उपस्थित समस्त जनता ने भगवान् महावीर का निर्वाण-कल्याणक-उत्सव मनाने का विचार किया। देवगण भी वहा उपस्थित थे, उन्होने भी इसमे योगदान देने का निश्चय किया।

तीर्थङ्करो के निर्वाण को भी कल्याणक का रूप इसलिये दिया गया है, क्योकि उनके जन्म की तरह निर्वाण भी अनेक लोगो के कल्याण एव एकान्त सुख का कारण होता है। कल्याणक का अर्थ है जो अपने लिये और सासारिक प्राणियो के लिये कल्याणरूप फल का कारण हो, जो परमश्रेय का साधन हो, अनर्थोपरामकारक हो, एकान्तप्रियसुखावह हो, और मुक्ति का कारण हो।

भगवान् महावीर का निर्वाण भी इन सभी लक्षणो से युक्त था, अत· उसको भी निर्वाण-कल्याणक[1] का रूप दिया गया। सचमुच भगवान् महावीर की निर्वाण-साधना एव निर्वाण-प्राप्ति से अनेक लोगो

---

१ कल्याणक: आत्मन परेषा जीवाना च कल्याणफलत्वादि लक्षण.। नि.श्रेयस-साधनानि कल्याणफलानि च। कल्याणक. एकान्तसुकान्तसुखावहे—पुण्ये कर्मणि, अनर्थोपरामकारिणि कल्यो मोक्षस्तमानयतीति कल्याणक मुक्ति-हेतौ।

—अभिधानराजेन्द्रकोष

का कल्याण हुआ है, उनका अपना तो परमकल्याण हुआ ही है। जो लोग अज्ञानान्धकार मे, भ्रम मे या मिथ्यात्व की दलदल मे फसे हुए थे, उन्हें भगवान् महावीर की निर्वाणसाधना और निर्वाणप्राप्ति से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रेरणा मिली। किसी भी हीन से हीन दशा मे पडा हुआ आत्मा भी खासतौर से मानव, विना किसी देव या अन्य शक्ति का सहारा लिये, आत्म-पुरुषार्थ से निर्वाण तक पहुच सकता है, इस वात को भगवान महावीर के जीवन से जान कर अनेक आत्माओ ने कल्याण का मार्ग प्राप्त किया, निर्वाण-पथ पर चलने के लिये उद्यत हुए। इसी बात को आम जनता मे उजागर करने और सर्वसाधारण के लिये निर्वाण-कल्याण का मार्ग सुलभ करने के लिये तथा पुण्यलाभ की दृष्टि से देवों और मानवो ने मिल कर निर्वाण-कल्याणक उत्सव मनाया।

महावीर-निर्वाण की स्मृति में दीपावलीपर्व का आरम्भ

भगवान महावीर की निर्वाण-रात्रि को सारी पृथ्वी दिव्य प्रकाश मे आलोकित हो उठी थी, किन्तु उनके पार्थिव शरीर का दिव्य-सस्कार करने के बाद वहा उपस्थित सभी राजाओ ने विचार किया कि हमारे बीच मे से ज्ञान का (भाव) महाप्रकाश उठ गया है, सदा के लिये हम से विदा ले कर वह भावोद्योत चला गया है,[1] समस्त ससार अन्धकाराच्छन्न हो गया है। इसीलिये देवो ने द्रव्योद्योत किया है। अत अब हमे भी उनकी स्मृति मे निर्वाण के प्रतीक के रूप मे द्रव्योद्योत (वाह्य प्रकाश) करना चाहिए। इसके लिये हम सकल्प करते हैं कि प्रतिवर्ष हम इस दिन दीप जला कर द्रव्य-प्रकाश किया करेगे। तब से प्रतिवर्ष इस दिन दीप जला कर प्रकाश करने से दीपावलीपर्व प्रारम्भ हुआ।[2] जैन-इतिहास मे दीपावली पर्व के श्रीगणेश का यह ज्वलन्त

१ 'गते से भावुज्जोए दव्वुज्जोय करिस्सामो'—कल्पसूत्र सू० १२७

२ ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्तत, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयाऽत्र भारते।
समुद्यत. पूजयितु जिनेश्वर, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥
—हरिवश पुराण,

प्रमाण है। सचमुच उस समय आम जनता की यह पुकार थी कि हमारे बीच मे से ससार की एक दिव्य विभूति उठ गई है।

किसी ने यह भी कहा—अब हम जैसे मानसिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों का कोई सहारा नही रहा। कई लोगो की अन्तर्ध्वनि थी—आज ससार महावीर के चले जाने मे शोभाविहीन हो गया है। किसी ने कहा—मसार आज ज्ञान-दिवाकर के अस्त हो जाने मे अन्धकारमय हो गया है। इन सब कारणो को ले कर इसी दिन दीपपर्व प्रारम्भ करने के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। शक्र द्वारा की गई स्तुति मे भी भगवान् को 'लोगपइवाण'—कह कर 'लोकप्रकाशक प्रदीप' बताया गया है। मानतु गाचार्यकृत स्तोत्र मे भी तीर्थङ्कर भगवान् के लिये कहा गया है—**दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः'** अर्थात्—'हे नाथ! आप जगत् को प्रकाशित करनेवाले दूसरे दीपक हैं।

यहा शका होती है कि भगवान् महावीर से पहले भी २३ तीर्थङ्कर हो चुके हैं और उनका निर्वाण भी रात्रि मे ही हुआ था, फिर क्या कारण है कि भगवान महावीर के निर्वाण-दिवस को ही दीपावली के रूप मे मनाया गया, अन्य तीर्थङ्करों का निर्वाण-दिवस भी दीपावली के रूप मे मनाया जाना चाहिये था? इसके समाधान के रूप मे यह कहना है कि श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण बसती (नगरी) मे हुआ था, वह भी धर्मदेशना देते हुए। जबकि शेष २३ तीर्थङ्करो का निर्वाण वनो या पर्वतो मे हुआ था, नगर या बसती मे नही और न ही धर्मोपदेश देते हुए हुआ। सभव है उनके निर्वाण के समय कोई राजा या विशिष्ट भक्त आदि के उपस्थित न रहने से ऐसा न हुआ हो। मान लो कि राजा आदि की उपस्थिति २३ तीर्थङ्करो मे से किसी के निर्वाण के समय रही भी हो तो भी किसी को यह विचार न सूझा हो कि हम इन तीर्थङ्करो की निर्वाण-तिथि को दीपावली के रूप मे मनाए। ऐसी स्थिति मे अन्य तीर्थङ्करो के निर्वाण को दीपावली के रूप मे मनाने का प्रश्न ही नही उठता।

महावीर-निर्वाण के साथ 'भैयादूज' का सम्बन्ध

भगवान् महावीर के निर्वाण के समाचार विद्युद्वेग की तरह

चारो ओर फैल गए थे। निर्वाण का वृत्तान्त जब भगवान् के ज्येष्ठ भ्राता राजा नन्दीवर्धन को मिला तो वे अत्यन्त शोक-विह्वल हो गए। उनके नेत्रो से अश्रु-धारा वह चली। उनका मन भ्रातृवियोग में खिन्न हो गया। वहन सुदर्शना ने उन्हे अपने यहां बुला कर और विभिन्न युक्तियो से समझा-बुझा कर सान्त्वना दी और उनका मोह व शोक दूर किया। वह तिथि कार्तिक शुक्ला दूज थी। तभी से वह तिथि 'भैयादूज'[1] (भ्रातृ-द्वितीया) के पर्व के रूप मे मनाई जाती है और भगवान् महावीर के निर्वाण का पुण्य-स्मरण किया जाता है।

निर्वाण-समय के भस्म ग्रह का संघ पर प्रभाव

कहा जाता कि श्रमण भगवान् के परिनिर्वाण का समय निकट जानकर[2] शक्रेन्द्र आए और हाथ जोडकर निवेदन करने लगे—"हे नाथ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था और इस समय उसमे भस्मक ग्रह सक्रान्त होनेवाला है, आप श्री के जन्म-नक्षत्र मे सक्रान्त वह ग्रह दो हजार वर्ष तक आपके श्रमण-श्रमणियो की अभिवृद्धि (पूजा-सत्कार आदि) को कम करता रहेगा, अत. कृपा करके आप अपनी आयु के क्षणो को बढा ले, ताकि तब तक यह भस्मग्रह आपके जन्म-नक्षत्र से सक्रान्त कर जाय, क्योकि आपकी विद्यमानता मे यदि यह कुग्रह सक्रमण कर जायेगा तो आपके प्रबल प्रभाव से स्वत निष्फल हो जायगा, अत एक क्षण तक अपनी जीवन घडी को दीर्घ करके प्रतीक्षा करे, जिससे इस दुष्ट ग्रह का प्रभाव शान्त हो जाए।"

इन्द्र की इस अभ्यर्थना पर भगवान् ने कहा—"इन्द्र! तुम यह जानते हो कि आयुष्य के क्षणो को न्यूनाधिक करने को शक्ति किसी मे भी नही है, फिर भी तुम सघ-भक्तिवश इस प्रकार की अनहोनी बात कह रहे हो! आगामी दुषमकाल के प्रभाव से तीर्थ को हानि पहुचने वाली है, उसमे भवितव्यता के अनुसार यह भस्मक ग्रह भी अपना फल दिखलाएगा ही।"

---

१ कल्पसूत्र सुबोधिनी टीका।

२ महावीर चरिय।

इस सवाद से तथा कल्पसूत्र[1] मे निर्दिष्ट आचार्य भद्रवाहु के भविष्य-कथन मे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण-समय के भस्मक ग्रह के योग मे आगामी दो हजार वर्षों तक श्रमणसघ का गौरव कम होता रहा है, किन्तु वहां यह भी स्पष्ट कथन है कि दो हजार वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर भस्मराशि ग्रह के समाप्त हो जाने पर श्रमण-श्रमणियो की उन्नति, सत्कार, सम्मान, गौरव एवं महत्ता मे दिनोदिन अभिवृद्धि होगी ।

निर्वाणरात्रि में उत्पन्न सूक्ष्म जीव राशि से भविष्य का संकेत

जिस रात्रि मे तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण हुआ था उस रात्रि मे जो आखो से सहसा न दिखाई दें और जिनकी रक्षा न हो सके, ऐसे कुन्थुवा नामक सूक्ष्म जीवो की राशि उत्पन्न हो गई ।[2] यह जीव इतना सूक्ष्म होता है कि स्थिर होने पर हलन-चलन न करने के कारण छद्मस्थ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियो को दृष्टिगोचर ही नही होता । अत भगवान् महावीर के वहुत से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियो ने इन जीवो की उत्पत्ति को जीव-रक्षा (सयम) के लिये दुराराध्य मानकर आमरण अनशन स्वीकार कर लिया था । सचमुच, यह अनशन इस बात का संकेत था कि आज से संयम का पालन अत्यन्त दुष्कर हो जायगा । अस्तु जो भी हो इस पचमकाल मे सयम-पालन वहुत ही कठिन हो गया है । इसे काल का प्रभाव कहे या दुष्टग्रह का फल कहे, पर यह तो स्पष्ट है कि इस वक्र जडयुग मे सारे ही सघ पर सयम-हानि की क्रूर दृष्टि पड़ी हुई है, सारा ही सघ आज इसकी काली छाया से प्रभावित है ।

निर्वाणोत्तर सघ-संचालन सूत्र किन-किन हाथों में ?

भगवान महावीर जव तक जीवित थे, तव तक शासन-व्यवस्था उनके मार्ग-निर्देशन के अनुसार सुन्दर ढग से चलती थी, परन्तु भगवान महावीर ने अपने जीवन-काल मे इन्द्रभूति गौतम आदि ११ श्रमणो को गणधर वनाकर अपने भिक्षु-सघ की श्रुत-व्यवस्था ११ गणधरो मे

१. कल्पसूत्र सू० १२८, १२९, १३० ।

२. कल्पसूत्र सू० १३१, १३२ ।

विभक्त कर दी। ये ११ गणधर अपने-अपने गण के अन्तर्गत साधुओ को शास्त्र-वाचना देते थे, उन्हे प्रवचन-कुशल एव चारित्र मे सुदृढ बनाते थे, किन्तु इन सब का मुख्य सचालन-सूत्र भगवान महावीर के पट्ट शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम के हाथो मे था। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने चतुर्विध सघ की स्थापना करके इन्द्रभूति आदि गणधरो को 'उप्पन्नेई वा, विगमेई वा, धुवेई वा' (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) यह त्रिपदी प्रदान की। इसी त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने द्वादशाग गणिपिटक की रचना की, जिसमे तत्त्वज्ञान, आचार-सहिता, सिद्धान्तबोध, व्यावहारिक ज्ञान नीति का प्रतिपादन, प्रमाण, प्रमाण-नय, निक्षेप, अनेकान्तवाद स्याद्वाद आदि का स्पष्ट मार्ग-दर्शन था। इस गणिपिटक के आधार पर ही विभिन्न गणो के साधुओ को वाचना दी जाती थी। सारे भिक्षु-सघ को इन ग्यारह गणधरो के नौ गणो मे विभक्त कर दिया गया था। प्रथम सात गणधरो की सात वाचनाएं थी। अकम्पित और अचलभ्राता दोनो गणधरो की समान वाचना होने से दोनो का एक गण हुआ तथा मैतार्य और प्रभास गणधर की भी एक सी वाचना होने से इन दोनो का गण भी एक ही हुआ। इस प्रकार वाचना की दृष्टि से नौ गण हुए।

किन्तु भगवान महावीर के निर्वाण से पहले ही इन ग्यारह गणधरो मे से इन्द्रभूति और सुधर्मा स्वामी को छोड़ कर बाकी के नौ गणधर निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो चुके थे और इन्द्रभूति गौतम को भी जिस रात्रि मे भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर मे केवलज्ञान हो चुका था। इसलिये संघ के सचालन का नायकत्व आर्य सुधर्मा स्वामी पर आया। सुधर्मा स्वामी जी ने कुशलता-पूर्वक सघ का नेतृत्व किया।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद २५०० वर्षों में संघ की स्थिति

निर्वाणवादी श्रमण भगवान महावीर ने चतुर्विध श्रमण-सघ

१ कल्पसूत्र घासी लाल जी महाराज की टीका, सूत्र ११४
२ कल्पसूत्र चूर्णि, सूत्र १२६

की स्थापना किसी साम्प्रदायिक उद्देश्य से या मत-पथ के प्रसार की दृष्टि से नही की थी। उनका एकमात्र उद्देश्य यही था कि अज्ञान के अन्धकार मे भटकती हुई जनता ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप शुद्ध धर्म की आराधना सगठित होकर एक विचारसूत्र मे वध कर करे। इसीलिये भगवान महावीर की स्तुति मे उन्हे जैन या किसी भी मत पथ या सम्प्रदाय के संस्थापक न कह कर 'धम्मतित्थयरे जिणे'— धर्ममय तीर्थ (सघ) की स्थापना करनेवाले जिन कहा गया है। यही कारण है कि भगवान महावीर के धर्म-सघ मे सभी वर्गों के स्त्री और पुरुष, साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका के रूप मे आए, उन्होने सघ की उन्नति के लिये भरसक प्रयत्न किये। परन्तु भगवान महावीर के निर्वाण को २५०० वर्ष हुए, इस लम्बी अवधि के इतिहास से पता लगता है कि इस दीर्घकाल के दौरान वडी-वडी क्रान्तिया हुई, अनेक ज्योतिर्धर युगद्रष्टा आचार्य हुए, जिन्होने समाज के रथ-चक्र को समय की धुरी पर टिकाने का भरसक प्रयत्न किया, फिर भी खेल के मैदान मे इधर-उधर उछल जानेवाले फुटवाल की तरह समाज भी बीच-वीच मे अपने केन्द्रस्थल से हट कर इधर-उधर उछलते रहे, भटकते रहे।

पहले कहा जा चुका है कि भगवान महावीर के निर्वाण के समय जो उनकी जन्म-राशि पर भस्मग्रह चल रहा था उसके प्रभाव से श्रीसघ मे दो हजार वर्ष तक क्रमश ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे न्यूनता आएगी। इस भविष्य कथन के अनुसार सघ मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की न्यूनता और गौरव मे कमी के लक्षण अवश्य प्रकट हुए और वीर लौकागाह के काल तक जैन-सस्कृति को अनेक अवरोधो का सामना करना पडा।

यह तो स्पष्ट विदित होता है कि भगवान महावीर के समय मे जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनो एक-दूसरे का आदर करते हुए, अपनी-अपनी सयम-चर्या के अनुसार धर्माचरण करते हुए, एक सूत्र मे ग्रथित रहते थे। हालाकि जिनकल्पी वस्ती से दूर जगलो और उपवनो पर्वतो आदि मे रहते थे और स्थविरकल्पी समाज से सम्पर्क रखते हुए अपनी साधना करते थे, परन्तु दोनो के वीच मे कोई खाई नही थी, दोनो एक-दूसरे से मिलते रहते थे, दोनो भगवान महावीर के शासन की छत्र-छाया मे चलते थे।

परन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के बाद श्री जम्बू स्वामी तक निर्वाण-प्राप्ति (मोक्ष-गमन) का सिलसिला चलता रहा। बाद मे भरत-क्षेत्र से निर्वाण-प्राप्ति का सिलसिला बन्द हो गया। उसके बाद[1] जिनकल्प, केवलज्ञान मन-पर्यवज्ञान एव परम अवधिज्ञान आदि दस बातो का भी क्रमश विच्छेद हो गया। इस ह्रास का भगवान महावीर के धर्मसघ पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पडा।

आज जो भी श्रमण-श्रमणिया इस भरत-क्षेत्र मे विचरण कर रहे हैं, वे सब आर्य-सुधर्मा स्वामी की शिष्य-परम्परा के ही है।

अब दो हजार वर्ष बीत चुके हैं, भस्मक ग्रह का प्रभाव समाप्त हो चुका है, अत अब श्रमण-सस्कृति का मेघाच्छन्न सूर्य पुनः प्रकाशित होने लगा है। वैसे तो भगवान महावीर के निर्वाण से दो हजार वर्ष बाद वीर लोकाशाह के काल मे ही जैनधर्म पुन. प्रभावशील होकर जाग उठा था, परन्तु पच्चीसवी निर्वाण-शताब्दी के रूप मे हो रही जैन-सस्कृति की प्रभावना जैन-सस्कृति के उज्ज्वल भविष्य का दर्शन करवा रही है।

विदेशो मे शाकाहारी सोसायटियो की स्थापनाए हो रही हैं, शराब-विरोधी अभियान चल रहे है, अमेरिका से 'अहिंसा' नामक पत्रिका निकल रही है। जिसकी सदस्य-सख्या तीन लाख बताई जा रही है। ये सब कार्य जैन-सस्कृति के प्रचार और प्रसार के ही अग हैं।

अनेकान्तवादी जैन-सस्कृति के चारो सम्प्रदायो के एकता की ओर बढते कदम भी शासन-प्रभाव के विस्तार मे सहयोगी बनेंगे, यह मेरा विश्वास है। मेरा यही विश्वास प्रभु-चरणो मे वन्दनाए अर्पित कर रहा है।

---

१ कल्पसूत्र टीका पृ० २८३—

मण परमोहि-पुलाए, आहार-खवग उवसमे कप्पे।

सजमतिग केवल सिज्झणा या जम्बूम्मि वुच्छिण्णा।

जैन परम्परा नो इतिहास भा—१९७२

पाप-ताप-दुख हरनेवाली, श्री जिनेन्द्र की वाणी ।
रत्नत्रय से मण्डित जग हित बन जाए कल्याणी ।।



महावीर-वचनामृत

जैन-धर्म दिवाकर पंजाब प्रवर्तक
मुनि श्री फूलचन्द जी 'श्रमण'

श्री महावीर-वचनामृत

• ६ •

आचारांग सूत्र

१ उवहेएण वहिया य लोग से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू । १।४।३	जो व्यक्ति अन्य धर्मावलम्बियो के प्रति भी तटस्थ रहता है अन्य धर्मो की मान्यताओ से उद्विग्न नही होता वही विद्वानो मे श्रेष्ठ माना जाता है ।
२ नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा। २।३।१	सकट की घडियो मे मन को डावाडोल मत होने दो ।
३ पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एव दुक्खा पमुच्चसि । १।३।३	मानव ! अपने आप पर स्वय नियन्त्रण करो । अपने आप पर नियन्त्रण करने पर ही तू दुखो से छुटकारा पा सकता है ।
४ सव्वओ पमत्तस्स भय सव्वओ अपमत्तस्स नत्थिभय । १।३।४	जो असावधान है उसे सब ओर से भय रहता है सावधान के लिये कही से भी भय नही रहता ।
५ जे एगं नामे से बहुँ नामे । १।३।४	जो अपने आपको झुका लेता है, उसके सामने सारी दुनिया झुक जाती है ।

६ नाणागमो-मुच्चु मुहस्स अत्थि। १।४।२	मृत्यु के मुख मे पड़ा हुआ व्यक्ति मृत्यु से बच जाए यह कैसे सम्भव हो सकता है ?
७ नो निन्हवेज्ज वीरियं । १।५।३	अपनी शक्ति को छिपाना नही चाहिए, बल्कि अपनी शक्ति से काम लेना चाहिए ।
८ नो अत्ताणं आसाएज्जा नो परं आसाएज्जा १।६।५	न अपना तिरस्कार करो और न ही दूसरों का ।
९ गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह । १।८।१	धर्म गाव मे भी हो सकता है और वन मे भी, क्योकि वस्तुत धर्म न गाव मे है, न वन मे, धर्म तो आत्मा मे है ।
१० समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए। १।८।१	आर्य महापुरुषो ने सबसे समान व्यवहार को ही धर्म कहा है।
११ लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोस वयणाए। २।३।१५	लोभी व्यक्ति लोभ का अवसर आते ही झूठ बोलने पर उतारू हो जाता है।

सूत्र-कृतांग

१२ तमाओ ते तमं जन्ति । मंदा आरम्भ निस्सिया। १।१।१।१४	वे मूर्ख व्यक्ति अन्धकार की ओर ही जाते हैं जो दूसरो को पीडित करते हैं।
१३ समुप्पाय मजाणता कह नायति संवर । १।१।३।१०	जो दुख की उत्पत्ति के मूल कारण को नही समझता वह उसे दूर करने के कारण को कैसे जान सकता है ?

१४. बाले पावेंहि मिज्जति १।२।२।२१	मूर्ख व्यक्ति अपने द्वारा किए हुए पाप-कर्म पर भी अभिमान करता है।
१५. मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं १।२।३।७	भविष्य मे दु:खो से बचे रहो, इसलिये अभी से अपने आप पर नियन्त्रण करो।
१६ इणमेव खण वियाणिया १।२।३।१९	वर्तमान का क्षण ही महत्व पूर्ण हैं, अत. उसका सदुपयोग करलो।
१७. जेहिं काले परक्कंतं न पच्छा परितप्पए १।३।४।१५	जो समय पर अपना कार्य कर लेते हैं, वे वाद मे पछताते नही।
१८. सयं सयं पसंसता, गरहता परं वयं, जे उ तत्थ विउस्संति, संसार ते विउस्सिया १।१।२।२३	जो अपनी या अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरो की तथा दूसरो के मत की निन्दा करते है, जो सत्य की उपेक्षा कर देते हैं, ऐसे ही लोग आवागमन के चक्र मे फसे रहते हैं।
१९. अट्ठे परिहायती बहुं, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए १।२।२।१९	कभी किसी से लड़ाई-झगडा मत करो, लडाई झगडे से वहुत हानि होती है।
२०. जहा कड कम्म तहासि भारे १।५।१।२६	जैसा काम करोगे, वैसा ही फल भोगोगे।
२१ दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा १।७।२९	विपत्ति आ जाने पर मन को स्थिर रखना चाहिए।
२२. अणुचिंतिय वागरे १।९।२५	जव वोलो! सोच-विचार कर वोलो।

२३. न यावि पन्ने परिहास कुज्जा १।४।१९

बुद्धिमान् वही है जो किसी का उपहास नही करता।

स्थानांग-सूत्र

२४. एगा अहम्मपडिमा जं से आया परिकिलेसति १।१

अधर्म-वृत्ति ही ऐसा विकार है, जिससे आत्मा-को कष्ट उठाने पडते हैं।

२५ तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा—माणुसं भवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुल पच्चायांति ३।३

देवता भी तीन बातो की इच्छा करते है—मनुष्य-जीवन, आर्य-भूमि मे जन्म और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

२६. तओ दुस्सन्नप्पा—दुट्ठे मूढे वुग्गहिए ३।४

तीन व्यक्तियो को समझाया नही जा सकता—दुष्ट व्यक्ति को, मूर्ख व्यक्ति को और बहके हुए व्यक्ति को।

२७. पव्वयराइसमाणं कोहं, अणुपविट्ठे जीवे कालं, करेइ णेरइएसु उववज्जइ ४।२

पर्वत की दरार के समान अमिट क्रोध व्यक्ति को नरक मे धकेल देता है।

२८. चत्तारि अवायणिज्जा अविणीए, विगइ पडिबद्धे, अविओसित-पाहुडे, माई ४।३

चार व्यक्ति अध्ययन करने के योग्य नही होते—अविनीत चटोरा, झगडालू और कपटी।

२९. चत्तारि धम्मदारा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ४।४

धर्म-मन्दिर के चार द्वार है—क्षमा, सन्तोष, सरल स्वभाव और नम्रता।

३० चउहिं ठाणेहिं जीवा, तिरिक्ख जोणियत्ताए, कम्मं पगरेंति—माइल्लियाए, नियडिल्लयाए, अलियवयणेणं कूडतुला-कूडमाणेणं ४।४	चार कारणो से जीव पशु-योनि मे जन्म लेते हैं—छल-कपट करने से, धूर्तता करने से, झूठ बोलने से और कम तोलने तथा कम नापने से।
३१ मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू ६।३	अधिक बोलना सत्य का विघातक है।
३२ गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च-करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ। ६।८	रोगी की सेवा के लिये बिना हिचकिचाहट के तैयार रहना चाहिए।
३३ नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया अच्चासणाए, अहियासणाए, अइनिद्दाए, अइजागरिएण, उच्चार-निरोहेण, पासवण-निरोहेण, अद्धाण-गमणेणं, भोयणपडिकूलयाए, इंदियत्थ-विकोवणयाए। ९।९	नौ कारणो से रोग उत्पन्न होते हैं—अति भोजन से अरुचिकर भोजन से, बहुत सोने से, बहुत जागने, शौच-बाधा रोकने से, मूत्र-बाधा रोकने से, अधिक चलने से, प्रकृति-विरुद्ध भोजन करने से और विषय-वासनाओ मे अधिक लीन रहने से।
३४ चउहिं ठाणेहिं सते गुणे नासेज्जा-कोहेणं, पडिणिसेवेणं, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ता भिणिवेसेणं। ४।४	चार दुर्गुणो के कारण मनुष्य के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं—क्रोध, ईर्ष्या, अकृतज्ञता और मिथ्या आग्रह।

भगवती-सूत्र

३५ सवीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति। १।८	शक्तिशाली विजयी होता है और शक्तिहीन पराजित होता है।

३६ भोगी भोगे परिच्चयमाणे महा-णिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ । ७।७	भोगो को भोगने मे समर्थ होते हुए भी जो भोगों का परित्याग कर देता है, वही कर्म-भार से छूट कर मोक्ष प्राप्त कर मकता है।
३७ एगं इसिं हणमाणे अणते जीवे हणइ । ९।३४	अहिंसा परायण एक मुनि की हिंसा करनेवाला एक प्रकार से अनन्त जीवो की हिंसा करता है।
३८. जीवियास-मरण-भय-विप्प-मुक्का । ८।७	वही व्यक्ति महान है जो जीवन की आशा और मृत्यु का भय दोनो से मुक्त है।
३९ सयकडे दुक्खे, नो परकडे। १७।५	तुमने अपने लिये आप ही दुख उत्पन्न किए हैं, अन्य किसी ने नही।
४० समाहिकारए ण तमेव समाहिं पडिलब्भइ। ७।१	जो दूसरो को शान्ति देने का प्रयास करता है, वह स्वयं भी शान्ति पाता है।

प्रश्न-व्याकरण-सूत्र

४१ उवणमंति मरणधम्मं अवित्तत्ता कामाणं। १।४	वडे-वडे राजा महाराजा भी भोग भोगते हुए तृप्त हुए विना ही मर गए, भोगो से कोई भी तृप्त नही हो सका।
४२ नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए। १।५	परिग्रह अर्थात् आवश्यकता से अधिक सचय की वृत्ति के समान कोई जाल नही— कोई बन्धन नही।

४३ त सच्च भगवं । २।२	सत्य ही भगवान है।
४४ सच्च च हियं च मियं च गाहणं च । २।२	सत्य वचन भी ऐसा बोलना चाहिए जो हितकारी, थोड़े शब्द मे कहा गया हो और जो सब के लिये ग्राह्य हो।
४५ अलियवयण अयसकरं वेरकरणं, मण-सकिलेस-वियरणं । १।२	झूठ वोलने से अपयश होता है, पारस्परिक शत्रुता बढती है और मानसिक कष्ट की वृद्धि होती है।
४६ अप्पणो थवणा परेसु निंदा । २।२	अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा दोनो को असत्य ही समझो।
४७ भीतो अन्नं पि हु भेसेज्जा । २।२	स्वय भयभीत होनेवाला व्यक्ति अन्यो को भी भयभीत कर देता है।
४८ कुद्धो सच्च सीलं विणयं हणेज्ज । २।२	क्रोध से अन्धा हुआ व्यक्ति सत्य, शील और विनय सबका नाश कर देता है।
४९ ण भाइयव्व, भीतं खु भया अइंति लहुय २।२२	कभी डरो मत! निर्भय रहो! भयभीत के पास ही भय आता है।
५० अणुन्नविय गेण्हियव्व २।३	दूसरे की वस्तु को उससे पूछ कर ग्रहण करो।

५१ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो। १।१	अहिंसा, सयम और तप ही धर्म है और धर्म ही उत्कृष्ट मगल है। जिसका मन धर्म मे स्थिर हो जाता है देवता भी उसे नमस्कार करते हैं।
५२ कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए। २।१	जिसने अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण नही किया, भला वह व्यक्ति साधक बन कर साधना कैसे कर सकेगा।
५३ कामे कमाही कमियं खु दुक्खं। २।५	जो इच्छाओ को दूर कर देता है, उससे दुख स्वय ही दूर हो जाते हैं।
५४ जं सेयं तं समायरे। ४।११	जो कार्य श्रेयस्कारी हो उसीका आचरण करो।
५५ दवदवस्स न गच्छेज्जा। ५।१	जल्दी-जल्दी मत चलो—हर कदम सोच-समझ कर उठाओ।
५६ हसंतो नाभिगच्छेज्जा। ५।२	मार्ग मे चलते हुए मत हसो।
५७ सकिलेसकरं ठाण दूरओ परिवज्जए। ५।१।१६	जिस स्थान पर क्लेश की सम्भावना हो वहा से दूर ही रहना चाहिए।
५८ मूलमेयमहम्मस्समहादोस- समुस्सयः। ६।१६	दुराचार ही अधर्म का मूल है और सभी बड़े पापो का उत्पत्ति-स्थान है।

५९ वल थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो । खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाण निजुंजए । ८।३५	कोई भी कार्य करने से पहले छ वातो का ध्यान रखो—शारीरिक शक्ति, मनोवल, आत्म-विश्वास, नैरोग्य, कार्य-क्षेत्र और कार्य का समय एव परिस्थितिया ।
६०. काले कालं समायरे । ५।२।४	जो कार्य जिस समय करना चाहिए उसे उसी समय कर लेना चाहिए ।
६१ कुसीलवड्ढणं ठाणं दूरओ परिवज्जए । ६।५९	दुराचारी वृत्ति को वढावा देने वाले स्थान से सदा दूर रहो ।
६२. थोव लद्धुं न खिसए । ८।२९	मन चाहा लाभ न होने पर झुझलाना नही चाहिए ।
६३ बीयं तं न समायरे । ८।३१	जो भूल एक वार हो जाए उसे दुवारा मत होने दो ।

ज्ञाता-धर्म-कथा

६४. विणयमूले धम्मे पण्णत्ते । २।५	धर्म का मूल विनय ही है ।
६५ अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि । १।९	आत्मा अव्यय है, अवस्थित अर्थात् अविनाशी है ।
६६ धम्म-विसए वि सुहमा माया होइ अणत्थाय । १।८	धर्म-कार्य मे मामूली सा छल-कपट भी महान् अनर्थ का कारण वन जाता है ।

नन्दो-सूत्र

६७. सुहमो य होइ कालो । १।६२	काल की गति अति सूक्ष्म है ।
६८. खीरमिव जहा हंसा जे घुट्टंति इह गुरुगुणसमिद्धा । दोसे अ विवज्जंति तं जाणसु जाणिय परिस १।५२	जैसे हंस पानी को छोड़ कर दूध का पान करते हैं, उसी प्रकार अच्छे समाज के लोग दोषो को छोड़कर गुणो को ग्रहण कर लेते हैं ।
६९. सेलघण - कुडग - चालिणी, परिपुण्णग-हस-महिस-मेसे य । मसग - जलूग - विराली जाहग - गो - भेरि - आभारी १।५।१	चौदह प्रकार के श्रोता होते है— चिकने गोल पत्थर मे, मेघ से, घड़े जैसे, छानने से, छानने के कपड़े जैसे, हस जैसे, भैसे के समान, मेढे के सदृश, मच्छर जैसे जोक जैसे, बिल्ली से, जाहक (चूहे जैसे प्राणी) जैसे, गाय के समान, नगारे जैसे और अहीर-पत्नी जैसे ।
७०. सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं १।४२	मेघो के छा जाने पर भी सूर्य-चन्द्र का प्रकाश तो होता ही है। अर्थात् गणवानो की गुण-गरिमा छिप नही सकती ।

उत्तराध्ययन

७१. सव्व जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे । सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव १४।३९	अगर सारा ससार और संसार की समस्त सम्पदाए तुम्हारी हो जांय तो भी तुझे सन्तोष नही हो सकता और न ही वे सम्पत्तियां तुम्हारी रक्षा कर सकती हैं ।

७२ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था १६।१४	इस संसार मे रहनेवाला कोई भी व्यक्ति धन के द्वारा अपनी सुरक्षा नही कर सकता, धन परलोक में भी जीव का रक्षक नही बन सकता।
७३. खुड्डेहिं सह संसग्गि हासं कीडं च वज्जए १।९	तुच्छ लोगो के साथ सम्पर्क, हसी-मजाक और क्रीडा आदि नही करनी चाहिए।
७४ बहुयं मा य आलवे १।१०	बहुत नही बोलना चाहिए।
७५. न सिया तोत्त-गवेसए १।४०	दूसरो को बुराइयो की ओर मत देखो।
७६. सरिसो होइ बालाणं २।२४	बुरे के साथ बुरा व्यवहार करना बचपन है।
७७ मेत्तिं भूएसु कप्पए ६।२	समस्त प्राणियो से मित्रता का व्यवहार करो।
७८. कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए १०।२	जैसे हिलती हुई घास की नोक पर ओस की बूंद कुछ समय तक ही ठहर सकती है, इसी प्रकार संसार मे जीवन भी कुछ समय तक ही ठहर सकता है, अतः गौतम ! क्षण भर के लिये भी प्रमाद मत करो।
७९. दुल्लहे खलु माणुसे भवे १०।४	निश्चय ही मनुष्य-जन्म का मिलना बहुत दुर्लभ है।

८०. अह पचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई। थभा कोहा पमाएण रोगेणालस्सएण वा ११।३	अहकार, क्रोध, प्रमाद, और रोग आलस्य इन पाच के रहते हुए, शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त नही कर सकता।
८१ पियकरे पियवाई से सिक्ख लद्धुमरिहइ ११।१४	सब के मनचाहे कार्य करनेवाला एव सबसे प्रिय बोलनेवाला अपनी अभीष्ट शिक्षा को प्राप्त करने मे सफल होता है।
८२ वेया अहीया न हवति ताणं १८।१२	पाठ करलेने मात्र से वेद तुम्हारी रक्षा नही कर सकते।
८३ जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स अत्थि पलायण। जे जाणे न मरिस्सामि, सो हु कखे सुए सिया १४।२७	जिसकी मृत्यु से मित्रता है, जो मौत से भाग कर बच सकता है, जिसको विश्वास हो कि मैं मरूगा, नही वही व्यक्ति कल का भरोसा कर सकता है।
८४. दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जण १९।२८	जिसने चोरी से बचने का व्रत धारण कर लिया है वह और तो क्या दान्त साफ करने का एक तिनका भी विना पूछे नही उठाता।
८५. सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्ख - विमोक्खणे २६।१०	स्वाध्याय करते रहने पर समस्त दु:खो से छुटकारा मिल जाता है।
८६ खमावणयाए ण पल्हायणभाव जणयइ २९।१७	क्षमाभाव को अपनाने मे आत्मा को प्रसन्नता की अनुभूति होती है।
८७ वेयावच्चेण तित्थयर नाम-गोत्तं कम्म निबन्धइ २९।४३	सेवा करके मनुष्य "तीर्थङ्कर" बनने योग्य कर्मो का उपार्जन कर लेता है।

गणधर-परिचय

परिशिष्ट

मध्यमा पावा के समवसरण मे जिन ग्यारह विद्वानो ने भगवान के पास अपनी शकाओ का समाधान करके दीक्षा ली थी, वे विद्वान् भगवान महावीर के प्रथम शिष्य कहलाए। अपनी असाधारण विद्वत्ता, अनुशासन-कुशलता तथा आचारदक्षता के कारण ये भगवान के गणधर बने। *गणधर भगवान के गण (सघ) के स्तम्भ होते है। तीर्थङ्करो की अर्थरूप* वाणी को सूत्ररूप मे ग्रथित करनेवाले कुशल शब्द-शिल्पी होते हैं। भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। जिनका परिचय निम्न है —

१ इन्द्रभूति (गौतम)

इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रधान शिष्य थे। मगध की राजधानी राजगृह के पास गोबर गाव उनकी जन्मभूमि थी। जो आज नालन्दा का ही एक भाग माना जाता है। उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था।

यह कहना कठिन है कि इन्द्रभूति गौतम का गोत्र क्या था, वे किस ऋषि के वश से सम्बद्ध थे? किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि गौतम गोत्र के महान गौरव के अनुरूप ही उनका व्यक्तित्व विराट् व प्रभावशाली था। दूर-दूर तक उनकी विद्वत्ता की धाक थी। पाच सौ छात्र उनके पास अध्ययन के लिये रहते थे। उनके व्यापक प्रभाव से प्रभावित होकर ही सोमिलार्य ने महायज्ञ का नेतृत्व उनके हाथो मे सौपा था।

पचास वर्ष की आयु मे आपने पाच सौ छात्रो के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की, तीस वर्ष तक छद्मस्थ[1] और बारह वर्ष जीवन्मुक्त केवली रहे। गुणशील चैत्य मे मासिक अनशन करके बानवे वर्ष की आयु मे उन्होने निर्वाण को प्राप्त किया।

---

१ साधनावस्था

२. अग्निभूति

अग्निभूति, इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे। छयालीस वर्ष की अवस्था मे अपने पाचसौ छात्रो के साथ दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे सयम-पालन कर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष तक केवली अवस्था मे विचरण कर भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर चौहत्तर वर्ष की अवस्था मे निर्वाण को प्राप्त हुए।

३. वायुभूति

ये इन्द्रभूति के लघु भ्राता थे। बयालीस वर्ष की अवस्था मे गृहवास को त्याग कर श्रमण-धर्म स्वीकार किया था। दस वर्ष छद्मस्थावस्था मे रहे। अठारह वर्ष केवली अवस्था मे रहे। इन्होने सत्तर वर्ष की अवस्था मे राजगृह के गुणशीलचैत्य में मासिक अनशन के साथ निर्वाण प्राप्त किया।

४ आर्यव्यक्त

ये कोल्लागसन्निवेश के निवासी थे और भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था। पचास वर्ष की अवस्था मे पाच सौ छात्रो के साथ श्रमण-धर्म स्वीकार किया। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे रहे और अठारह वर्ष तक केवली अवस्था मे रह कर अस्सी वर्ष की अवस्था मे मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशीलचैत्य मे निर्वाण को प्राप्त हुए।

५. सुधर्मा

ये कोल्लागसनिवेश के निवासी अग्नि-वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता धम्मिल थे और माता भद्दिला थी। पाच सौ छात्र इन के पास अध्ययन करते थे। पचास वर्ष की अवस्था मे शिष्यो के साथ प्रव्रज्या ली। बयालीस वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था मे रहे। महावीर के निर्वाण के बाद बारह वर्ष व्यतीत होने पर केवली हुए और आठ वर्ष तक केवली अवस्था मे रहे।

श्रमण भगवान के सभी गणधरों मे से सुधर्मा स्वामी दीर्घजीवी थे, अत अन्य गणधरों ने अपने-अपने निर्वाण के समय अपने-अपने गण सुधर्मा स्वामी को समर्पित कर दिये थे।

महावीर-निर्वाण के १२ वर्ष बाद सुधर्मा जी को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ और वीस वर्ष के पश्चात सौ वर्ष की अवस्था मे उन्होने मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

६. मण्डिक

मण्डिक मौर्यसनिवेश के रहनेवाले वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजयादेवी था। इन्होने तीन सौ पचास छात्रो के साथ त्रेपन वर्ष की अवस्था मे प्रव्रज्या ली और सतसठ (६७) वर्ष की अवस्था मे केवलज्ञान प्राप्त किया। तिरासी वर्ष की अवस्था मे गुणशील चैत्य मे निर्वाण को प्राप्त हुए।

७. मौर्यपुत्र

ये कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजयादेवी था। ये मौर्यसन्निवेश के निवासी थे। तीन सौ पचास छात्रो के साथ त्रेसठ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली। उनासी वर्ष की अवस्था मे केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान महावीर के जीवन के अन्तिम वर्ष मे तिरासी (८३) वर्ष की अवस्था मे मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

८ अकम्पित

ये मिथिला के रहनेवाले गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे, इनके पिता देव और माता जयन्ती थी। तीन सौ छात्रो के साथ अठतालीस वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ली। सत्तावन वर्ष की अवस्था मे केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान महावीर के जीवन के अन्तिम वर्ष मे अठासी वर्ष की अवस्था मे राजगृह के गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

९. अचलभ्राता

ये कौशला ग्राम के निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके

पिता वसु और माता नन्दा थी। तीन सौ छात्रों के साथ छयालीस वर्ष की अवस्था मे श्रमणत्व स्वीकार किया। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे रहे और चौदह वर्ष केवली अवस्था मे विचरण कर बहत्तर वर्ष की अवस्था मे मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशीलचैत्य मे निर्वाण को प्राप्त हुए।

१० मेतार्य

ये वत्सदेशान्तर्गत तुङ्गिक सन्निवेश के निवासी कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम दत्त और माता का नाम वरुणदेवी था। इन्होने तीन सौ छात्रो के साथ छत्तीस वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की। दस वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे रहे और सोलह वर्ष तक केवली अवस्था मे भगवान महावीर के निर्वाण से चार वर्ष पूर्व बासठ वर्ष की अवस्था मे राजगृह के गुणशीलचैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

११, प्रभास

ये राजगृह के निवासी, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। सोलह वर्ष की अवस्था में श्रमण धर्म स्वीकार किया। आठ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और सोलह वर्ष तक केवली अवस्था मे। भगवान महावीर के सर्वज्ञ जीवन के पच्चीसवे वर्ष मे राजगृह मे मासिक अनशन पूर्वक चालीस वर्ष की अवस्था मे निर्वाण प्राप्त किया।

